धर्म प्रेमी बन्धुओं। यदि आप सरल उपायोंसे आध्यात्मिक ज्ञान, विज्ञान व शान्ति चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी सहजानन्द जी महाराजके रचित ग्रन्थ व प्रवचन ग्रन्थका स्वाध्याय अवश्य कीजिये।

इन समस्त ग्रन्थोंका नाम वर्णी सेट है, जो अध्यात्म ग्रन्थ सेट अध्यात्म प्रवचन सेट, विज्ञान सेट व ट्रैक्टसेट, इन चार सेटों में विभक्त हैं। ये ग्रन्थ जिसके पास न हों तो स्वाध्याय के अर्थ अवश्य मंगावें।

वर्णी सेट (समस्त ग्रन्थ अर्थात् चारों सेट) मँगाने पर २०) प्रतिशत कमीशन होगा। विभक्त सेटोंमें से एक दो या तीन सेट मँगाने पर १५) प्रतिशत कमीशन होगा।

अध्यात्म ग्रन्थ सेट :—

	रु०न०पै०
आत्मसम्बोधन सपरिशिष्ट	१-५०
सहजानन्द गीता	१-००
सहजानन्द गीता सतात्पर्य	२-००
तत्व रहस्य प्रथम भाग	१-००
अध्यात्म चर्चा	०-७५
अध्यात्म सहस्त्री	१-००
समयसार भाष्य पीठिका	०-३१
समयसार भाष्य पीठिका सार्थ	०-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५६	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५७	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५८	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५९	०-५०
सहजानंद डायरी सन् १९६०	०-५०
भागवत धर्म	२-००
समयसार दृष्टान्त मर्म	०-३७
अध्यात्म वृत्तावलि	०-२५
मनोहर पद्यावलि	०-३७
दृष्टि	०-२५
सुबोधपत्रावलि	०-६२
स्तोत्र पाठपुञ्ज	०-३७
अध्यात्मरत्नात्रयीसमून	०-७५
Samayasar exposition (Purvarang)	०-३१
Samayasar exposition (Kartri karmadhikar)	०-३१
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका	३-००
समाधितंत्र सभावार्थ	०-३७

अध्यात्म प्रवचन सेट :—

धर्म प्रवचन	०-७५
सुख कहाँ	०-५०
अध्यात्म सूत्र प्रवचन उत्तरार्ध	२-५०
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग	२-२५
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-७५
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-२५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	२-००
,, ,, ,, पञ्चम भाग	१-७५
,, ,, ,, षष्ठ भाग	१-७५
,, ,, ,, सप्तम भाग	१-५०
,, ,, ,, अष्टम भाग	१-५०
,, ,, ,, नवम भाग	१-५०
,, ,, ,, दशम भाग	१-२५

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

प्रवचनसार प्रवचन दशम भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्रबन्ध सम्पादक—
बाबूलाल जैन पाटनी केशियर स्टेट बैंक
प्रतिनिधि आगरा शाखा सहजानन्द शास्त्रमाला
प्रधान आत्मकीर्तन प्रचार मंडल,
तार गली मोती कटरा, आगरा।

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी सदर मेरठ (उ० प्र०)

..tiya Shruti-Darshan Kendra
JAIPUR

न्यौछावर
१ रुपया २५ नये पैसे

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके
संरक्षक महानुभाव

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स सदर मेरठ

अध्यक्ष, प्रधान ट्रस्टी एवं संरक्षक

(२) श्री सौ० फूलमालादेवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स

सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक सदस्य महानुभावोंकी नामावलि :—

(१) श्री सेठ भँवरीलालजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द्रजी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवतीदेवी जैन गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंहजी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द्र ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्दजी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्दजी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्दजी जैन मंसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलालजी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैनजी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडूसाहजी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनरायजी जैन नईमन्डी मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्दजी जैन देहरादून
(१५) ,, ला० जयकुमार वीरसेनजी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री दिगम्बर जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन तिस्सा

(१८) ,, बा० विशालचन्दजी जैन म्यां० मजिस्ट्रेट सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द ज्योतिप्रसादजी जैन ओवरसियर इटावा
(२०) ,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन संघी जयपुर
(२१) ,, श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालालजी जैन जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज गया
(२३) ,, सेठ सागरमलजी जैन पाण्ड्या गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलालजी जैन गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूरामजी मोदी गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथजी जैन नईमंडी मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्दजी जैन सर्राफ बड़ौत
(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्दजी जैन गया
(२९) ,, सेठ जीतमल इन्द्रकुमारजी जैन छाबड़ा झूमरीतिलैया
(३०) ,, सेठ गोकुलचन्द्र हरकचन्द्रजी जैन गोधा लालगोला
(३१) ,, बा० इन्द्रजीतजी जैन वकील स्वरूपनगर कानपुर
(३२) ,, बा० दीपचन्दजी जैन एग्जूक्यूटिव इन्जिनियर कानपुर
(३३) ,, सकल दिगम्बर जैन समाज नाईकी मन्डी आगरा
(३४) ,, मंत्री दिगम्बर जैनसमाज तारकी गली मोती कटरा आगरा
(३५) ,, संचालिका दिगम्बर जैन महिलामंडल नमककी मंडी आगरा
(३६) ,, मंत्री दिगम्बर जैन जैसवाल समाज छीपीटोला आगरा
* (३७) ,, सेठ शीतलप्रसादजी जैन सदर मेरठ
* (३८) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्दजी जैन बड़जात्या जयपुर
* (३९) ,, बा० दयारामजी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ
* (४०) ,, ला० मुन्नालाल यादवरायजी जैन सदर मेरठ
* (४१) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमारजी जैन सहारनपुर
* (४२) ,, सेठ छदामीलालजी जैन रईस फिरोजाबाद
* (४३) ,, ला० नेमिचन्दजी जैन रुड़की प्रेस रुड़की
ऽ (४४) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपालजी जैन शिमला
ऽ (४५) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलालजी जैन शिमला

नोट—जिन नामोंके पहिले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आगये हैं शेष आने हैं तथा जिनके पहिले ऽ ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आमुख

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका एक स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र स्वतन्त्र विचार-धारा है और प्रत्यक्ष एवं परोक्षात्मक विश्व-प्रपंचके निरूपणकी उत्पत्ति स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन शब्द जिन शब्दसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अपने आत्म-स्वातन्त्र्य लाभके लिए जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाला। और जयति कर्मशत्रून् इति जिनः इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करता है, वह 'जिन' कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शनका अर्थ होता है, आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तथोक्त जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाले व्यक्तिकी विश्व प्रपंचके सम्बन्धमें सुचिन्तक दृष्टि।

जैनदर्शनकी मान्यता है कि यह दृश्यमान एवं परोक्षसत्तात्मक विश्व, चेतन और जड़-दो प्रकारके तत्त्वोंका पिण्ड है व अनादि है, अनन्त है। दूसरे शब्दोंमें यह लोक-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका पिण्ड है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनका अर्थ है उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय छोड़कर उत्तरवर्ती पर्याय स्वीकार करता है, फिर भी वह अपनी स्वाभाविक धाराओंको नहीं छोड़ता है। द्रव्यका यही प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व है। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इन द्रव्योंमें सदैव सदृश परिणमन ही होता है। इसका अर्थ है कि इनमें प्रति समय परिवर्तन होनेपर भी ये द्रव्य स्वरूपसे सदैव एकसे ही बने रहते हैं, उनके स्वरूपमें तनिक भी विकृति नहीं आने पाती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्योंका यह हाल नहीं है। उनमें सदृश और विसदृश-अथवा शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं।

जिस समय रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणात्मक पुद्गल परमाणु अपनी विशुद्ध परमाणुदशामें परिणमन करते हैं, तब यह इनका सदृश अर्थात् शुद्ध परिणमन कहा जाता है और जब दो या दो से अधिक परमाणु स्कन्ध-दशामें परिणत होते हैं तब यह इनका विसदृश अर्थात् अशुद्ध परिणमन कहा जाता है।

ठीक ऐसी ही परिणमन-प्रक्रिया जीव द्रव्यकी है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल द्रव्यमें विभाव परिणमन करनेकी शक्ति है। सो इस वैभाविक शक्तिके कारण।

जीव जब तक संसारमें है और कर्म-बन्धनसे आबद्ध है, तब तक यह भी वैभाविक अर्थात् अशुद्ध परिणमन करता है, परपदार्थोंको अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है, अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको छोड़कर स्वयंको अन्य अनात्मीय भावोंका कर्ता मानता है और आत्मज्ञानसे इतर अनात्मीय भावोंमें ही तन्मय रहता है। परन्तु ज्यों ही इसे आत्मस्वरूपका बोध होता है, वह परवस्तुओंसे अपनी ममत्वपरिणति दूर कर लेता है और कर्म बन्धनसे निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्यमें रमण करने लगता है। जीवकी संसारदशाका प्रथम परिणमन वैभाविक एवं अशुद्ध परिणमन है और मुक्तदशाका द्वितीय परिणमन पूर्णतया आत्माश्रित होनेके कारण स्वाभाविक एवं शुद्ध परिणमन है।

अतः जैन दर्शन, जिनदर्शन अर्थात् आत्मदर्शनका ही रूपान्तर है, अतः उसमें आत्माकी दशाओंका, उनकी बद्ध और अशुद्ध स्थिति या और उसके कारणोंका बहुत विशद एवं विधिवत् विश्लेषण हुआ है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्तिको प्रश्रय देता है।

जैनदर्शनमें आत्माको ही उसकी स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिणतिका कर्ता माना गया है और अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशामें यह आत्मा ही स्वयं परमात्मा हो जाता है। संक्षेपमें जैनदर्शनके अध्यात्मवादका यही रहस्य है।

जैन अध्यात्म-साधनाका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, अनादि है, तथापि युगके अनुसार भगवान ऋषभदेवने अपने व्यक्तिजीवनमे इसके आदर्शोंकी अवतारणा की और पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न-आत्मस्वातन्त्र्यका लाभ किया। तीर्थंकर अजितनाथसे लेकर महा-वीर पर्यन्त शेष तीर्थंकरोंने भी इसी अध्यात्म-साधनाको स्वयं अपनी जीवन-सिद्धिका लक्ष्य बनाया और आत्मलाभकी दृष्टिसे अन्य प्राणियोंको भी मार्ग-दर्शन किया। इसी समयमें श्री भरतजी, बाहुबलिजी, रामचन्द्रजी, हनुमानजी आदि अनेकों पूज्य पुराण पुरुषोंने इसी ज्ञानात्मक उपायसे ब्रह्मलाभ किया और अनेकों भव्यात्माओंको मार्ग दर्शन दिया।

भगवान् महावीरके बाद भी यह जैन अध्यात्म-धारा प्रवाहित होती रही और आज भी हम उसके लघुरूपके दर्शन उसके कतिपय साधनोंमें एवं विशालरूपके दर्शन उस परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कर सकते हैं।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्यश्री कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मके यह असामान्य विद्वान् थे। यद्यपि इनकादीक्षकालीन नाम पद्मनन्दि था, तथापि कौण्डकुन्दपुरके अधिवासी होनेके कारण ये कौण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक विख्यात रहे और इसी नामपर इनकी वंश-परम्परा कुन्दकुन्दान्वयके रूपमें स्थापित हुई। शास्त्रवाचन आरम्भ करनेके पूर्व प्रत्येक पाठक मङ्गलाचरणके रूपमें पढ़ता है :—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

अर्थात् भगवान् महावीर मङ्गलमय हैं। गौतम गणधर मङ्गलमय है, और कुन्दकुदाचार्य मङ्गलमय है और जैनधर्म मङ्गलमय है।

इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि जैन वाङ्मय और उसके उपासकोंमें आचार्य कुन्द-कुन्दका कितना गौरवपूर्ण स्थान हैं।

जैनपरम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुडग्रन्थोंके कर्ताके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं; परन्तु इनके उपलब्ध २२,२३ ग्रन्थ ही इनके अगाध पाण्डित्य और तलस्पर्शी तत्त्व ज्ञानके परिचायक है इसमें भी प्रवचनसार, समयसार नियमसार तथा पंचास्तिकाय इन चार ग्रन्थोका मुख्य स्थान है। इस ग्रन्थचतुष्टयामें जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मका बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्दका प्रवचनसार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, ज्ञेय और चरित्ररूप द्वारा सम्बद्ध विषयोंका अत्यन्त सारगर्भित विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थपर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। अनेक विद्वानोंने उनका हिन्दी सार देकर प्रवचनसारके महत्त्वपूर्ण संस्करण भी प्रकाशित किये हैं।

परन्तु श्रद्धेय श्री १०५ क्षु० श्री सहजानन्द जी महाराज (श्री मनोहर जी वर्णी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ) ने समय समयपर ग्रन्थराज प्रवचनसारपर दिये गये जिन प्रवचनों द्वारा तन्ययताके साथ अन्य श्रोताओंको दुर्लभ अध्यात्मरसका पान

कराया, उन प्रवचनोंका और उन्हींको लेकर गुम्फित किये गये इस ग्रन्थरत्नका आध्यात्मिक वाङ्मयमें निःसन्देह बहुत बड़ा महत्त्व है और जब तक यह ग्रन्थरत्न विद्यमान रहेगा। इसका यह महत्त्व बराबर अक्षुण्ण रहेगा।

श्रद्धेय क्षुल्लक वर्णी जी महाराजने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र जी की अध्यात्मदेशनाको आत्मसात् करके जिस सरलता और सादगीके साथ जैन अध्यात्म जैसे गंभीर एवं दार्शनिक विषयोंको इन प्रवचनोंमें उड़ेला है उनका यह पुण्य-कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनुपम है।

आशा है, अध्यात्म प्रेमी समाज इस ग्रन्थका रुचिपूर्वक स्वाध्याय करेगा और अपनी दृष्टिको विशुद्ध और सम्यक् बनाकर पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्यके पथका अनुगामी बनेगा।

राजकुमार जैन
एम. ए. पी. एच. डी
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
आगरा कालेज

आगरा

२१-१०-१९६३

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री वर्णीजी महाराज द्वारा रचित

— आत्म-कीर्तन —

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्धसमान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुप दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ।।५।।

[धर्म प्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियोमें भारतमें अनेकों स्थानोंपर पाठ किया जाता है आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे १ घन्टा पहिले परिवारमें एकत्र एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

प्रवचनसार-प्रवचन दशम भाग

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

श्रीमत् सहजानन्द महाराज

ण हि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसवविसुद्धी ।

अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ।। २२० ।।

यह प्रवचनसार की २२० वीं गाथा है। इस चरणानुयोग सूचिका चूलिकामें पहिले १६ गाथाओंमें उत्सर्ग मार्गका वर्णन किया है। साधु कौन है ? जो श्रमण है वह साधु है। श्रमण कौन है ? जो रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञान स्वभावकी आराधनामें लीन है उसे श्रमण कहते हैं। श्रमणका कार्य क्या है ? रागद्वेषसे रहित निर्विकल्प ज्ञान सुधारससे छके बने रहना बस यही श्रमणका कार्य है।

श्रमणका मूल गुण—श्रमणका मूल गुण एक यही समताभाव है। जब अपने एक मूलगुणमें नहीं ठहर सके तो २८ मूल गुणोंमें प्रवृत्ति करता है। जैसे व्यवहारमें साधुके २८ मूल गुणोंका बड़ा ध्यान रखते हैं ना, यदि किसी साधुके मूलगुणोंमें कोई दोष आ गया तो वह मुनि नहीं है। क्योंकि मुनिका धर्म २८ मूलगुणोंको निर्विकार पालन करना है। इसी प्रकार इससे उच्च पद्धतिमें साधुधर्म देखिये साधुका मूलगुण अपना एक ही है। मूल १ होता है कि २८ होते हैं ? एक होता है। वृक्षकी जड़ एक होती है कि अनेक ? एक। तो साधूका मूल गुण १ है। वह है भैया! श्रामण्य अर्थात् समता भाव। उस समताभावमें जब नहीं ठहर पाते हैं तो समता भावके लायक हम बने रहें इस हेतु अनुकूल योग्य प्रवृत्ति करते हैं। वह प्रवृत्ति कैसी होना चाहिए ? यह २८ मूल गुणोंमें बताई गयी है। इस प्रकारसे साधुजनोंका उत्सर्ग मार्ग दिखाया है। अब इस गाथासे कुछ गाथावों तक भूमिका बना कर आगे अपवाद मार्गको भी बतायेंगे।

उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्गकी मैत्री—उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग दोनोंकी मित्रता होती है। बिना अपवाद मार्गके उत्सर्गमार्गका हठ कभी विचलित कर सकता है और बिना उत्सर्गमार्गके अपवादमार्गकी क्या

कीमत है। साधुका कार्य है समतापरिणाम रखना और अपने ज्ञानसे विचलित न होना यह तो है उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग क्या है। भूख लगे तब निर्दोष एक बार आहार लेना, विहार करना हो तो ईर्यासमितिपूर्वक विहार करना, दूसरोंसे बोलना हो तो धार्मिक हितकारी, परिमित वचन बोलना, शुद्धिके लिए कमण्डल रख लेना, संयमके लिए पीछी रख लेना, ज्ञानके लिए पुस्तक रख लेना, तेरह प्रकारके चारित्रका यथाविधि पालन करना आदि ये सब अपवादमार्ग है।

सत्प्रवृत्तिको अपवादमार्ग बतानेका कारण—ऐसा लगता होगा भैया ! कि इसे अपवाद मार्ग क्यों कहा। अपवाद मार्ग तो बुरा होता है। साधु अपवाद मार्गमें चल रहा है यह तो बुरी बात है। उत्तर—जो बुरा पथ हो वह तो मार्ग ही नहीं कहलाता है। वह तो कोरा अपवाद है। साधुका जो लक्ष्य है, वह है समता परिणाम और ज्ञायक स्वभावकी आराधना। इसके आगे खाना बोलना, चलना ये सब अपवाद हैं समताके मुकाबलेमें अच्छे काम नहीं है। किसी के श्रामण्यकी साधना उत्कृष्ट हो जाय तो वह अन्तर्मुहूर्तमें मोक्ष चला जायगा। जब कोई इतना साधक नहीं है इसलिए वह आगमके अनुकूल अपवाद मार्गको ग्रहण करता है।

परिग्रहके अन्तरङ्ग दोषपनेकी कारणता—इस प्रकरणमें कहते आरहे थे कि भाई अपने संयममें न तो अन्तरङ्ग दोष लगावो, न बहिरङ्ग दोष लगावो। वहिरङ्ग दोष यह है कि अपने शरीरकी चेष्टासे किसी जीवको बाधा पहुँचे और भीतरमें भाव बुरे न किये गये हों, अर्थात साधुका परिणाम निर्मल हो, लेकिन शरीरचेष्टासे बाहरमें दोष हो गये हों तो वह बहिरङ्ग दोष है। तथा बाहरकी चेष्टा भी होती हो या न होती हो, मनमें विकार आ जाना सो अंतरङ्ग दोष है। यह भी बताया है कि कदाचित् शरीरचेष्टासे किसी छोटे प्राणीका घात भी हो जाय तो उस घातके हो जानेपर भी बंध हो या न हो पर परिग्रह कोई यदि रखता है तो उसका बंध नियमसे है क्योंकि परिग्रहका सम्बन्ध भावोंमें विकारका कारण होता है।

परिग्रहके सम्बन्धसे परिणामोंकी मलीनताकी अनिवार्यता—आप जान बूझकर समझकर कपड़े रखते हैं, पैसा रखते हैं, और वस्तुयें रखते हैं तो क्या परिणामोंमें विशुद्धि रहती है। धरने, उठाने, रक्षा करने, साफ करनेकी दूसरे कपड़े लेनेकी, क्या चिन्तायें नहीं आती हैं उपाधिका सम्बन्ध अंतरङ्ग परिणाममें दोष करता है। और, साधुजन समिति पूर्वक चले जारहे हैं, कदाचित उनकी कायचेष्टासे किसी कुन्थु जीवका वध हो जाय तो वहाँ

कर्मबंध नहीं होगा पर एक तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखा तो उससे परिणामोंमें कुछ न कुछ विकार होता ही है। परिणामोंकी असावधानी बिना बाह्य उपाधि नहीं रखी जा सकती। इस ही बातको कहरहे हैं कि यदि उपाधिका निर्दोप त्याग नहीं है अर्थात् समस्त वस्तुवों की अभिलाषा तोड़कर सर्वथा त्याग नहीं है पूर्ण रीतिसे परिग्रहका त्याग नहीं है तो उसके आशय की निर्मलता नहीं हो सकती है और जिसके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है उसके कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती है।

परिग्रहके विषयमें गृहस्थके परिणाम—इससे गृहस्थ जनो! इस प्रकार से क्या शिक्षा लेना है कि अपना ऐसा परिणाम बनायें कि यह परिग्रह अनर्थका मूल है। हम इन परिग्रहोंको छोड़ नहीं सकते हैं, गृहस्थावस्था है, व्यवस्था सब करना है। कररहे हैं, करना पड़ेगा, पर बाह्य पदार्थों के विषयमें होने वाली बुद्धिसे सब अनर्थ करनेवाले हैं। कहाँ तो मेरा शुद्ध ज्ञान स्वभाव चैतन्यमात्र अरहंत सिद्ध परमात्माकी तरह ज्ञानानन्द स्वरूप परम पदार्थ हूँ, और कहाँ बाह्य पदार्थमें इतनी दृष्टि, इतना झुकाव। कितना अन्तर है? यह बाह्य परिग्रहोंका सम्बन्ध चाहे वह एक धागेका क्यों न हो, एक रूमाल क्यों न हो, वे सब सम्बन्ध मेरे अनर्थके लिए हैं। ऐसा परिणाम श्रावकों का रहना चाहिए।

परिग्रहकी अशुद्धिकारणतापर एक दृष्टान्त—बहिरङ्ग परिग्रहका सद्भाव हो तुष मात्र भी, तो जैसे धानके चावलपर तुप जबतक लगा रहता है तबतक चावलकी अशुद्धताका अभाव नहीं होता है, अशुद्धता बनी रहती है। इसी प्रकार बहिरङ्ग उपाधि हो तो अन्तरङ्गमें अशुद्ध उपयोग बना रहता है और अन्तरङ्ग संयमका नाश होता रहता है। हे साधो? तुम्हें क्या चाहिए? ऐसा प्रश्न होनेपर चलते बैठते, उठते, अल्प निद्रामें सोते, जागते उत्तर मुँहसे यह निकले कि मुझे तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति चाहिए और कुछ नहीं चाहिए।

निर्विकारताका आदर—इस साधुका इतना उत्कृष्ट भाव है, परमेष्ठी में नाम है। जैसे अरहंत और सिद्ध निर्विकार हैं वैसी निर्विकारताके लिये प्रगतिमें साधु परमेष्ठी हैं। मुमुक्षु पुरुष निर्विकारताके इतने प्रेमी होते हैं कि परमेष्ठीमें निर्विकारताके उन्हें दर्शन होते हैं। वे निर्विकारताके नाते ही परमेष्ठी भगवंतोंको पूजते हैं। देखो जिनशासनकी पावन पद्धतिको कि अरहंत सिद्धकी स्थापना भी निर्विकार चीजमें की जाती है, सो पत्थरकी पीतलकी, धातुकी मूर्तिमें अरहंतकी स्थापना की जा सकती है पर किसी

वालकमें अरहंतकी स्थापना नहीं की जा सकती है कि चलो अमुक विधान कररहे है तो ७ दिनके लिए अमुक बच्चेको महावीर स्वामी बनालें। बच्चेमे महावीर स्वामीकी स्थापना नहीं की जा सकती है। पत्थरमें महावीर स्वामीकी स्थापना की जा सकती है। पत्थरमें ज्ञान नहीं है, न सही, पत्थरमें रागद्वेषोंकी वात तो न मिलेगी। यदि किसी वालकको भगवान वना दो और थोड़ी देरमें वह कहने लगे कि मेरे भूख लगी है, जलेवी लावो तो भगवानके स्वरूपमें जो दृष्टि लगी थी वह सब खतम हो गई। अथवा वह बिधान या लीला ७ दिनकी खतम हो गई फिर वाद में ७ दिनके वालक के कोई हाथ न जोड़ेगा। एक राष्ट्रपति जिसे बनाया है उसके राष्ट्रपति मि-नेके वाद इतनी सुविधा दी जाती है कि राष्ट्रपतिकी इज्जत वनी रहे। पेंसन दी जाती है, और और सुविधाएँ दी जाती हैं। और महावीर मिटकर यह वालक दर-दर ठोकरें खाये और यों देखते रहें भक्त, क्या यह कोई भक्तिकी वात है। वालकको महावीर बनानेमें विकार अवस्थाके कारण उसमें अनेक आपत्तियाँ हैं। इससे भगवानकी स्थापना बालक आदि में नहीं हो सकती है।

उत्कृष्ट लक्ष्यमें सिद्धिसाधनता—भैया! अंतरङ्ग स्वरूपमें रुचि होना चाहिए सबकी, चाहे साधु हो या गृहस्थ हो। यह रुचि होना चाहिये कि मेरे ऐसे क्षण रहा करें कि जिन क्षणोंमें सर्व संकल्प विकल्पोंका त्याग होता हुआ अपने शुद्ध ज्ञानभावका अनुभव बने। ऊँचा लक्ष्य बनाए बिना छोटा भी ऊँचा वन नहीं सकता कोई कहे कि हम तो गृहस्थ हैं, हमें तो गृहस्थके लायक ही लक्ष्य बनाना चाहिए। कैसा भाई? सुबह हो गया, पूजन करना हमारा लक्ष्य है, किताब पढ़ लिया, गुरुवोंको पूछ लिया, जाप सामायिक कर लिया, हमारा तो इतना ही लक्ष्य है। बड़ा लक्ष्य क्यों बनायें? जिस पदमें हैं उस पदके लायक ही लक्ष्य बनाना है। सो यह बात उचित नहीं है।

मोक्षार्थियोंके लक्ष्यकी एकता—गृहस्थको भी उतना लक्ष्य रखना होगा जितना लक्ष्य साधुका होगा। रही चलनेकी बात तो साधु भी क्या अपने पूरे लक्ष्यमें चल सकता है? यदि चलता है तो अन्तर्मुहूर्तमें निर्णय हो जायगा। साधु अपने पूरे लक्ष्यमें नहीं चलता है इसलिये उसे महाव्रत गुप्ति समितिका विधान बताया है। साधुका लक्ष्य २८ मूलगुणोंका पालन करना नहीं है, पर २८ मूल गुणोंके विना साधु भी नहीं है। इसी तरह गृहस्थका भी लक्ष्य पूजा, दान, सामायिक, जप, तप ये नहीं हैं पर इनके

बिना गृहस्थ भी नहीं है। लक्ष्य तो जो मोक्षार्थी हैं उनका एक है। क्या श्रावक मोक्षार्थी नहीं है? और साधु? वे भी मोक्षार्थी हैं। साधु का लक्ष्य मोक्ष है और गृहस्थका लक्ष्य भी मोक्ष है। उस लक्ष्यकी साधनाके लिए ही गृहस्थ धर्म है इस पदवी में, और उस लक्ष्यभूत मोक्षकी साधनाके लिए ही ही साधु धर्म है।

आत्मसावधानीमें आत्मकरुणा—भैया ! इन परिग्रहोंकी अंतरङ्ग से कोई इच्छा न हो। अपनी दया करना है तो अपने परिणामोंको सावधान रखना होगा। ये जगत के लोग कुटुम्ब परिवार, मित्रजन, जिनपर दृष्टि रखकर हम आप व्याकुल हुए चले जारहे हैं ये मेरी शरण न होंगे, सहायक न होंगे। दुःखोंमें रक्षा न कर देंगे। ये सब जो प्रेमसे बोलते हैं वे कहीं आपकी वजहसे नहीं बोलते हैं, आपपर प्रेम करके नहीं बोलते हैं। उनमें भी स्वर कषाय चलरहा है, कषायका परिणमन चलरहा है, इच्छा की पूर्तिके लिए, अपने कषायकी वेदनाको मिटानेके लिए आपसे व्यवहार करते हैं। कहीं आपसे उनका सम्बन्ध नहीं है, जो आपसे प्रीति करते हैं। स्वरूप देखिये।

परिणमन-स्वातन्त्र्य—मेरे पर प्रीति करनेवाला कोई दूसरा पुरुष नहीं है। विचारिये दूसरोंपर प्रीति करनेलाले हम भी नहीं है। हम अपने विकल्पोंके अनुसार अपना परिणमन करते हैं। आप अपने विकल्पोंके अनुसार अपना परिणमन करते हैं। विकल्पोंकी जाति एक मिल जाय तो वहाँ सम्बन्ध मान लिया जाता है। वस्तुतः मेरा कहीं कुछ नहीं है। श्रद्धा में तो इतना त्याग पूरा रहना चाहिए। चारित्रको, त्यागको चाहे हम न निभा सकें पर साधुकी श्रद्धासे कम श्रद्धा हमारी होना न चाहिए।

साधु व श्रावककी श्रद्धाकी समानता—श्रद्धामें श्रावक और साधु एक समान हैं। क्या कहीं पर यह देखा सुना है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन साधु में और तरहका होता हो, श्रावकमें और तरहका हो या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन श्रावकमें अन्य प्रकार हो व साधुमें अन्य तरह हो इसी तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रावकका जो सम्यग्दर्शन जैसा पूर्ण निर्मल है। वैसा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन सावु परमेष्ठीके होता है। अन्तर तो चारित्र में होता है। अपने-अपने सम्यक्त्वविधिको जरा सम्भालें तो। मोक्ष का प्रथम सोपान सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व नहीं है तो आगे कुछ धर्म ही नहीं चल सकता है।

सम्यक्त्वका प्रेक्टीकल स्थूल चिह्न—सम्यक्त्वके चिह्नको जाननेके लिये कमसे कम मोटी बात इतनी तो देखो कि कदाचित् यह सम्भावना हो

जाय कि इस समय मरण होरहा तो उस मरनेसे मना तो न कर दूंगा, मैं अभी न मरूँ यह वाच्छा तो न होगी ? यदि यह मान ले कि भाई अभी नहीं मरना चाहते हैं। तो इस मरणको मना करनेका कारण आपको मिलेगा परिग्रह। लड़के छोटे हैं, इन्हें अभी योग्य बनाना है, अभी मकान अधूरा है अथवा अभी मोक्षके लिये, अपने आत्माके उद्धारके लिये कुछ नहीं कर पाया है। मरनेको मना करे तो जो मरनेको मना करे वह कमजोर है, मोही है, आसक्त है। परिग्रह न हो तो मरनेको क्यों मना करते। सम्यग्दृष्टि पुरुषकी पहिचान है निर्भयता। मरण आता है तो उसके भी ज्ञाता द्रष्टा रहना। मरण होने दो, यह हिम्मत कौन बना सकता है ? जिसके आकिञ्चन्य भाव प्रबल है। यह बात साधुकी नहीं कहरहे हैं, सबकी कह रहे हैं। साधुको भी मरणका भय नहीं करना चाहिये और श्रावकको भी मरणका भय नहीं करना चाहिये। इतनी धर्मकी तैयारी होना चाहिए जिसको धर्मभावकी तैयारी नहीं है वह मरनेसे मना करेगा।

लौकिक सुखकी पुण्यपर निर्भरता—आप कोई सोचते होंगे कि मेरे छोटे बालक हैं, मैं न रहूँगा तो बालकोंका पोषण कौन करेगा ? पर यह भी सम्भव है कि आपके रहते हुए बालकोंका पोषण उतना अच्छा न होगा जितना कि आपके न रहनेपर अच्छा पोषण होना सम्भव होगा। इसका कारण बालकोंका पोषण उनके पुण्यपर निर्भर है, आपकी चेष्टा पर नहीं। कुछ भी हो काम सब करें। भैया ! भीतरमें आत्मस्वरूपके अनुभव के द्वारा आत्मरसका आनन्द पाकर इतनी श्रद्धा साधना बनालें कि आकस्मिक मरण भी होता हो तो वहाँ भी विकल्प न जग सके। मैं तो पूरा का पूरा ज्ञानानन्दमूर्तिमात्र हूँ। लो, यह मैं जारहा हूँ। ठीक है, जारहा हूँ। यहां से हटकर विपत्तिमें न पड़ूंगा। मैं अपने इस चिदानन्द भगवानको भूल जाऊँ तो विपत्तिमें पड़ूंगा। और, इस चिदानन्द प्रभूको अभी भूला रहूँ तो अभी भी विपत्तिमें हूँ।

परका विकल्प ही संकट—भैया ! हम आपपर संकट क्या है ? केवल भीतरका ख्याल। दूसरोंको ख्याल करते देखकर तो हमें हंसी आ जायगी कि देखो बिना प्रयोजन यह अमुक बातोंमें लगा है। परन्तु अपने ख्यालपर अपनी मूर्खतापर अपनेको हँसी नहीं आती है। बाह्य परिग्रहोंका सम्बन्ध नियमसे अनर्थका कारण है। इसलिये जो अशुद्धोपयोगको नहीं चाहता, जो अन्तरङ्ग संयमके नाशको नहीं चाहता उसको चाहिये कि बाह्य परिग्रहों का परित्याग करे। बाह्य परिग्रहोंकी अभिलाषाका त्याग, बाह्य उपाधिका

त्याग ही अन्तरङ्ग दोषका त्याग माना जाता है।

निष्परिग्रहताकी विशुद्धिका अनुमान—आप कोट पहन कर, टोपी लगाकर, पाजामा पहिनकर, धोती पहिनकर कुछ सोनेके गहने पहिनकर सामायिक करने बैठें, उससमय का परिणाम देखिये। सभी चीजोंको सुरक्षित जगह बन्द करके एक दो कपड़े रखकर आप सामयिक करें तबका परिणाम देखो। श्रावकको यह इजाजत है कि कमरा बन्द करके कभी-कभी नग्न रूपसे सामायिक कर सकता है। उस समयकी स्थिति देखिए। अपने तनपर जब परिग्रहका सम्बन्ध नहीं रहता, ख्याल नहीं रहता उस समय परिणामों की निर्मलता विशेष होती है। गृहस्थोंको, श्रावकोंको परिग्रहका सम्बन्ध छूट नहीं सकता, लेकिन परिणाममें यह तो बनाए रहो कि तुष मात्र भी परिग्रह का सम्बन्ध इस ज्ञायकस्वभावमय निज प्रभुमें अनर्थ ही करने वाला है।

ज्ञानियोंका लक्ष्य कैवल्य—जरा अपना निजी विचार करो तुम्हें क्या बनना है। मुक्त! मुक्तके मायने केवल। केवल बनना है तो केवलको देखो ना, और केवल रहनेकी भावना करो ना। मैं केवल बन सकता हूँ। मैं केवल रहूँ। अर्थात् आत्माही आत्मा रहूँ। इसके अशुद्ध कर्म न रहें, शरीर न रहे, रागादिक भाव न रहें,ऐसा मैं केवल बनना चाहताहूँ। तो ऐसा केवलपना तेरे स्वरूपमें है या नहीं? यदि नहीं है तो केवल बननेकी भावना ही छोड़ दो। बन ही नहीं सकते हो। तू ऐसा केवल है, अपने स्वरूपमें अपनी सहज सत्ता के कारण तू अपने आपमें ऐसा केवल चैतन्य स्वरूप है। उस केवलकी भावना कर। उस केवलको ही देख। इस केवलको ही लक्ष्यमें रखूँ, ऐसी अपनी वृत्ति बना, तो ये सब तेरे केवल बननेके मार्ग हैं, मुक्ति पानेके मार्ग हैं। मोक्ष-मार्गपर चलना, धर्मका पालन करना शुद्ध श्रद्धापर निर्भर है। इसलिए अनेकों उपाय करके भी, अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी एक शुद्ध श्रद्धाको प्रकट करलें कि मैं आत्माराम वास्तवमें कैसा हूँ। इस आत्मा की सत्य श्रद्धासे ही हमारे सर्व संकट दूर हो सकेंगे।

अब आगे यह बतला रहे हैं कि उपाधिका यदि विस्तार होता है याने परिग्रहका संयम होता है तो उससे नियमसे अन्तरङ्ग संयमका विनाश होता है। क्योंकि मूर्च्छा विना उपाधिविस्तार नहीं किया जा सकता है।

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ १२१ ॥

मूर्च्छा व आरम्भका साधन उपाधि—उपाधि होनेपर ममताका परिणाम या उस परिग्रहके लिए आरम्भका श्रम क्यों नहीं होगा। जो साधु कहा

कर भी खेतीवारी करते हैं, वैंकमें हिसाव रखते हैं, बगीचेका सिंचन किया करते हैं, जायदाद, धन भी रखते हैं, क्या उनके ममता परिणाम नहीं होता होगा। नहीं है तो क्यों चीजें साथ रखे हैं। जिस चीजसे अपनी इन्द्रियोंका विषय न पोषा जाय ऐसी चीज साथमें है तो उसके कारण तो ममता नहीं होगी, पर जो पदार्थ इन्द्रियके विषयोंका पोषक है वह पदार्थ साथ रखे और कहे कि मेरे ममता नहीं है, यह कैसे हो सकता है।

अभिरुचि होनेपर उपकरण भी परिग्रह—जैसे पीछी कमण्डल है, इससे इन्द्रियोंका विषय नहीं पोषा जाता है। अतः पीछी कमण्डल ममताका साधन नहीं हो लेकिन कोई पीछी को वड़ी सुन्दर रखे, कमण्डलको वढ़िया चमकदार रखे तो उससे मनका विषय पोषा जाता है। कितना सुन्दर है, कितना बढ़िया है, यह मौज माने तो यह ममताका साधन वन जायगा। साधु कौन है? जिनको केवल अपने आत्मासे प्रयोजन है। आत्महितके सिवाय उनका कोई प्रोग्राम नहीं। कभी वे जनहितमें, देशहितमें लगे तो वे प्रायश्चित लेते हैं और फिर अपने अन्तरङ्ग संयममें सावधान होते हैं। जिस मुनिके मूर्छा हो, आरम्भ हो उसके क्या असंयम नहीं है? उसके प्रकट असंयम है और जो असंयमी है, परद्रव्योंमें रत है वह दुःखोंको दूर कैसे कर सकता है?

आग्रह परिग्रह—परिग्रहका सद्भाव है तो ममता परिणाम मूर्छाका होना अवश्यम्भावी है। आप हम तनपर जो कुछ भी रखे हुए हैं, कपड़ा और-और चीजें, फाउन्टनपेन पेन्सिल, मनीवेग रखे हैं, जो जो रखे हैं जिन्हें आप लादते चले आरहे हैं क्या उनमें आपके मूर्छा नहीं है, कोई कपड़े पहिननेवाला अपनेको परमसाधु वतलावे तो उससे बातें करते जावो, कुछ न वोलो सीधा उसके कपड़े पकड़कर फाड़ दो। और चर्चा करनेकी जरूरत नहीं है अगर कहे कि यह क्या करते हो? तो कहो कि आपको तो कोई परिग्रह नहीं है उसमें तो आपको मूर्छा नहीं है। फिर क्या क्या क्यों करते हो, सीधा उत्तर देदो। मोक्षकी साधनाका बाना और उसमें मूर्छाका साधन रखना कितना वेमेल काम है।

विरागता बिना मोक्षमार्ग असंभव—मूर्छाका साधन रखते हुए भी यदि साधुता है तो गृहस्थने कौनसा अपराध किया। अब तो साधुता केवल परिणामोंको ही माना ना? तो परिग्रहवान साधुका और गृहस्थका तुलनात्मक अध्ययन करलो, बरावर स्वरूप मिल गया। भैया! आगे सब विस्तारसे वर्णन आयगा कि [illegible] एक बार भोजन करना चाहिए। और, एक बार भोजन न करवे [illegible] तब खावे, बारवार खावे, ६ बार

खावे तो उससे गृहस्थ वेचारे भले हैं। गृहस्थोंको काम काज की वजहसे इतनी फुरसत नहीं है कि वे तीन चार वार खा सकें। और घरको छोड़ दिया तो सारे दिन फुरसत है और फुरसत है तो भूखही लगती रहेगी। कोई संयम नहीं है। चार छह वार खा सकते हैं। जिसको आत्मसाधन करना है उसको तो ऐसा वातावरण मिलना चाहिए कि वह केवल आत्महितकी दृष्टि रखसके।

भोजनासक्तिसे अकल्याण—खाना, मैथुन और भोग। इन विषय प्रसंगोंकी दो इन्द्रियोंपर संयम करनेके लिए आप देखो शास्त्रोंमें वड़ा जोर दिया गया है संयम तो पाँचोंपर कराया है, पर दो इन्द्रियोंकी बड़ी आसक्ति होती है। सबसे अधिक बुरा तो स्पर्शन इन्द्रियका विषय है। ब्रह्मचर्यका घात करना यह स्पर्शन इन्द्रियका विषय है। यह खानेका संयम स्पर्शन इन्द्रियके विषयकी उद्दण्डताको रोकनेके लिए भी है। वैसे तो खाते हुए जो रसका स्वाद आता है उसमें जो प्रीति पैदा होती है, आशक्ति पैदा होती है वह भी त्याज्य है और उसके संयममें मर्म यह है कि स्पर्शन इन्द्रियका संयम भी वन सके।

परिग्रहधारणमें साधुताका निषेध—कुछ भी परिग्रह साथ हो तो उसके कारण फिर अनेक अनर्थ हो जाता है। मूर्छा परिणाम अवश्य होगा और उस परिग्रहविषयक कुछ न कुछ कर्म करनेका कार्यक्रम रूप आरम्भ उसका जरूर होगा, यों रखना, यों धोना, यों उठना। जो अत्यन्त निष्परिग्रह है वह साधु है। इतना न वन सका तो खाली लगोटी लगाले वह ऐलक मुनि है। ऐलकके मायने है कम कपड़े वाला। और क्षुल्लकके मायने छोटा, तुच्छ, विल्कुल हल्का। तो छोटा क्या ? क्या छोटा श्रावक ? उसके साथ मुनिका विशेषण लगा हुआ होता है और उन विशेपणोंसे मतलब यह निकलता है कि मुनि केवल वह है जो निर्ग्रन्थ है और ऐलक है मुनिसे कम। क्षुल्लकका अर्थ है तुच्छ अथवा छोटा सो उस मुनिके मुकावलेमें छोटा है। अगर क्षुल्लक का मतलव क्षुल्लक श्रावकसे लगाया तो बुरा अर्थ हो जायगा। तुच्छ श्रावक हो जायगा। अव देखो, न साधना हो सके तो एक लंगोटी पहिन लेनेपर वह साधु परमेष्टीमें नहीं रहा। इतना भी न वने, लंगोटी और चद्दर लगा लो तो वह उस अचैलक (ऐलक) साधुसे कम रहा। साधु परमेष्टीमें नहीं रहा।

परिग्रह धारणमें हिंसाकी अनिवार्यता—परिग्रह रखे और कहे कि मेरे मूर्छा नहीं है यह नहीं हो सकता है। मूर्छा तो है पर आरम्भ भी साथमें करना पड़ेगा। परिणामोंकी विशुद्धिके सम्वन्धमें तो साधु तिलतुष मात्र भी

परिग्रह रखता है तो पापी है और श्रावक गृहस्थ इतने परिग्रह के बीच रहता हुआ भी थोड़ा त्याग करता है, दान करदे, कुछ बनवा दे, परोपकारमें लगा दे तो वह पुण्यवाला होरहा है। भावोंकी बात है। तो परिग्रहके कारण मूर्छा व आरम्भ होगा और तब असंयम नियमसे होगा। असंयम माने हिंसा। जिसके आरम्भ लगा है वह हिंसक है। किसका हिंसक है? शुद्ध आत्मपरिणामकी हिंसा कररहा है शुद्धोपयोगकी शुद्ध परिणामोंकी हिंसा कर रहा है। इस कारणसे शरीर मात्र परिग्रह तो निवारा नहीं जा सकता है पर इस शरीरके अतिरिक्त अन्य कुछ परिग्रह रखना, पर द्रव्योंमें झुका देनेवाला परिणाम होनेसे आत्माका साधन नहीं है।

परिग्रहके प्रति गृहस्थका वर्ताव—भैया! एक लक्ष्य बन जाय तो सब व्यवहार धर्म का फल हमें ठीक लगने लगता है। गृहस्थ धर्ममें भी गृहस्थका लक्ष्य एक ही अनुपम विशुद्ध होता है। बाह्य पदार्थोंको संग रखे बिना गृहस्थ का गुजारा हो ही नहीं सकता मगर यह तो किया जा सकेगा आसानीसे। क्या? कि थोड़े श्रमसे पुण्य पापके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है उसमें अपनी व्यवस्था बना ले यह बात तो की जा सकती है। और कहो नहीं किया जा सकता तो झक मार कर किया जा सकता है। कहाँ से ये विशेष चीजें लावोगे? जो पास हैं उसमें ही तो गुजरा करोगे। जरा प्रसन्न होकर धर्मके नामपर चूँकि जिनेन्द्र देवने यह धर्म बताया है कि बाह्य पदार्थोंसे हमारा हित नहीं है, हमारा पूरा न पड़ेगा सो जो उदयानुसार प्राप्त होता है उसमें ही सन्तोष रखो, प्रभुके नामपर खुश रहो। इतनी व्यवस्था तो की जा सकती है। और कहो कि इतनी व्यवस्था भी नहीं की जा सकती तब फिर आगे भगवान मौन है उनका फिर कुछ उपदेश नहीं है।

उदयानुसार प्राप्तमें व्यवस्थाका विवेक—एक लेखकने ब्रह्मचर्यके बारेमें उपदेश लिखा कि भाई पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहो। कोई कहे कि अजी इतना नहीं बनता तो वर्षमें ५ दिन ब्रह्मचर्यसे रहो।...अजी इतना भी नहीं बनेगा तो महीने में ५ दिन छोड़कर ब्रह्मचर्यसे रहो।...अजी इतना भी नहीं बन सकता तो हफ्तेमें तीन दिन छोड़कर रहो।...अजी इतनेमें भी नहीं बन सकता तो फिर बतायें क्या करो? बाजारमें जावो और कफन खरीद कर रखलो और फिर जैसा मन चाहे वैसा करो। हम धर्मका पालन करने चलें और इस जड़ विभूतिको भगवानसे भी ऊँचा स्थान दें तब आगे और फिर उपदेश क्या किया जाय। धर्मका और मार्ग ही क्या रहा। कमसे कम इतना काम तो पहिले करना ही होगा कि इस धन वैभवको जड़ असार जानकर

इससे मेरा हित नहीं है, पर इसके बिना गृहस्थी चलती भी नहीं है। सो उदयानुसार स्वयं जो प्राप्त होता हो उसमें ही उसकी व्यवस्था बनाकर प्रसन्नतासे रहें।

आयका विभाग व सात्त्विक रहन सहन—आयको छः हिस्सोंमें बाँटलो—एक हिस्सा दानका, एक अपने धर्मपालनके साधनोंका दो हिस्सा कुटुम्बके पालन पोषणका, एक दो हिस्से विवाह आदि अवसरोंके लिए व आवसरिक उद्योग के लिये संचयका। इस व्यवस्थाके साथ-साथ यह ध्यान रखना चाहिए कि चाहे लाखोंकी करोड़ोंकी भी सम्पदा हो जाय पर अपना रहन सहन एक मध्यम दर्जेके हजारपतियोंकी तरह रहना चाहिए। साफ रहिए, स्वच्छ रहिए पर ऐसा तो न हो जैसे कि गुन्डे लोग बढ़िया रेशमी कुर्ता आदि पहिनते हैं, बहुत बढ़िया चमकदार कांति वाला हो, उसमें बेल बूटे कटी हो लड़ी लगी हों। अरे इस मांस खून, हड्डीकी चमड़ी पर क्या लड़ी लगाते। पसीना आ जाय तो लड़ीकी सुन्दरता नष्ट कर देगा। साफ स्वच्छ रहो, यह ठीक है। लोगोंमें यश फैले तो आपकी उदारताका यश फैले। और फैलेगा भी उदारता का ही यश। बढ़िया कपड़े, बढ़िया सोना चाँदीके जेवर, इनसे यश नहीं होता।

परिग्रहसे असंयम व चलचित्तता—साधुवोके प्रकरणमें यह बात बतला रहे हैं कि तिल तुष मात्र भी परिग्रहका रखना हो तो उससे मूर्छा होती है। आरम्भ होता है और शुद्ध आत्माके परिणामोंका घात होता है। वह हिंसक बनता है, असंयमी भी बनता है। कुछ भी उपाधि रखी जाय वह अन्तरङ्गमें संयमका घात ही करती है। दोष ही करती है, यह पूर्ण सुनिश्चत है। एक बार गुड़ भगवानके पास गया। जैसा गुड़ है वैसे भगवान होंगे। गुड़ किसी अच्छेके पास नहीं गया होगा जाकर बोला कि भगवान मुझे बड़ा दुःख है। जब मैं खेतमें खड़ा था तब लोगोंने मुझे चीड़ फाड़कर खाया। वहाँसे बचे तो मशीनमें पेलकर पीकर गुटका, वहाँसे बचा तो कड़ाहीमें पकाया, गुड़ बनाया फिर सतुवोंमें मिलाकर खाया, वहाँसे बचा और बादमें सड़ भी गया तो हे महाराज! सड़नेके बाद भी मैं तम्बाकूमें कूट कूट कर मिलाया गया खाया गया। महाराज! आप मेरे इस कष्टको दूर करो। तो वह भगवान बोलता है कि यहां से जल्दी हट जावो यही फैसला है. तुम्हारी बातोंको सुन कर हमारे मुँहमें भी पानी आ गया। तुम यहाँ भी न बच सकोगे।

परिग्रहसे उपेक्षाकी प्रेरणा—भैया! परिग्रह ऐसा पिशाच है कि जहां जाता है वहाँ ही बुद्धि बदल देता है। महान् कौन हुआ? महात्मा गाँधीजी

की आजकी दुनियामें ख्याति हुई, क्योंकि उनके ममता नहीं थी, परिग्रह नहीं था। केवल तौलिया चद्दर पहिनते रहे व देश सेवामें जुटे रहे, उन्होंने महल नहीं बनवाये। अब लोग उनके नामके महल बनवाते हैं, लोग देखने लिए आते हैं। खुद अपनी इच्छासे महल तैयार करते तो कौन देखनेके लिए आता। एक बार तो धर्मकी बाजी लगालो। मूर्छा न रखो। फिर देखो-उदय ठीक है कि नहीं। अगर धर्म करनेमें परोपकार करनेमें लग गये तो फिर देखो वैभव आता है कि नहीं अगर नहीं आता तो समझो कि ज्यादा नुकशान होना था, सो धर्म करनेसे कम नुकशानमें रह गये। और अगर आता है तो भी नियमकी बात हैं कि जब पुण्य है तो जायगा कहां ? किसी न किसी तरहसे फिर आयगा।

परिग्रहसे अन्तः क्लेश—गृहस्थ तो थोड़ा भी त्याग करे तो उसकी महिमा है और साधु थोड़ा भी परिग्रह रखे तो उसकी महिमा तो क्या, उल्टा उसका पतन है। परिग्रहका सम्बन्ध हिंसासे भी बढ़कर पापको करने वाला है। यह मुदी चोट है और हिंसाका पाप खुली चोट है। यह दुनियाको दिखाता है कि पाप कररहा है। पर मूर्छा परिग्रहका परिणाम मुदी चोट हैं। कष्ट किसमें अधिक है ? मुदी चोटमें। कहीं अंग टूट गया, फूट गया तो उसे बांध लिया ठीक हो जायगा पर मुदी चोटमें बहुत कष्ट होता है यह उपाधि नियमसे आत्माकी हिंसा करनेवाला है। इसलिए आत्मकल्याणके चाहने वाले साधुजनोंको उपाधि सर्वथा त्याग करने योग्य है ऐसा ही निर्णय करना चाहिए और गृहस्थ जनोंको भी पापमें दुख व पुण्यमें हर्ष न मानना चाहिए, जो उसके मात्र ज्ञाता रहना चाहिए।

संपदाकी अस्वामितापर दृष्टान्त—पहिले समयमें विवाह समयमें बरातमें आदमी जाते थे तो गहनोंसे अपनेको सजा कर जाते थे। पुराने गहने देखे होंगे आपने। गुञ्ज, मुर्की, कुन्डल, झेला, चूरा, तोड़ा, गोप ये पहिन कर सज कर बूढ़े तक भी जाते थे। जिनके पास गहने न होते थे वे दूसरोंके पहिन कर जाते थे। और, ऐसा चुपके मांग कर ले जाते थे कि यह पता न पड़े कि यह मांग कर पहिने हैं। अगर यह पता पड़ जाय कि यह मांगकर पहिने है तो इसमें शोभा क्या है। सो कोई नहीं जानता था कि यह मांगकर पहिन कर आया है। सो चार अदमियोंमें बड़ी ठमकसे गहना पहिनकर बैठा है किन्तु पहिनने वाला यह जानता है कि यह मांगकर लाये हैं, अभी तीन दिनमें दे देने पड़ेंगे सो उसे अन्तरमें गहनेका स्वामित्वका भ्रम नहीं है।

सम्पदाकी अस्वामिता—इसी तरह ज्ञानी जीव यह मांगेकी सम्पदा

लिए हुए है। लाखों और करोड़ोंका धन किससे माँगा हुआ है? पुण्यसे माँगा हुआ है। आत्मामें पैसा फूटकर नहीं आया कि आत्माके गुणोंमें या पर्यायमें धर निकल बैठा हो, या यह उपाधि आ गई है। ऐसी नहीं है। यह धन मांगेका है। सो ज्ञानी सेठको यह पता है कि यह जो लाखोंका सारा धन वैभव है वह मांगेका है पुण्यसे मांगकर मिला है, यह सब देना पड़ेगा याने यह छोड़ना पड़ेगा। उस ज्ञानीको पता है। सो उस ज्ञानीके पाई हुई सम्पदाकी मूर्च्छा नहीं है। इसी कारण पुण्यके फलमें वह हर्षित नहीं होता, पापोंके उदयमें विषाद भी नहीं करता।

विपदामें भी ज्ञानीकी निर्भयता—कभी ऐसा त्यौहार आता है कि समधी या और कोई के मुहमें लाल अबीर या गुलालको पोत दिया जाता है फिर ५ या १० रुपये भेंट करते हैं। होली में भी आता है। इस पोतको करवानेमें वह दुःखी नहीं होता है, जानता है कि अभी तो १० रुपये टीकाके मिलेंगे। इसी प्रकार इस ज्ञानीपर विपदा आती हैं तो वह सोचता है कि आती हैं विपत्तियाँ पापोंके उदयसे, पर अभी जल्दी ही खतम हो जायेंगी। वह ज्ञानी जानता है कि ये विपत्तियाँ और पापोंके उदय मेरे भला करनेके लिए आते हैं, कर्मोंकी निर्जराके लिये आते हैं। ऐसा ज्ञानी ही सोच सकता है अज्ञानी तो घबड़ा जायगा। भैया! हित चाहो तो धर्मका पालन करो। ज्ञानभावना द्वारा अपना आत्मबल बढ़ाना यही धर्मका पालन है।

धर्मका फल तात्कालिक—धर्म वह है जो उस ही समय शांति दे। आज धर्म करो फल मिलेगा, ऐसा तो एक सौदा सा हो गया। धर्म तो दर्शनी हुन्डो है, पुण्य तो टुटपुँजिया है। आज पुण्य करें तो आज फल नहीं मिलेगा पर धर्म ऐसा है कि अभी धर्म करें तो अभी फल मिलेगा। फल मिलना ही पड़ेगा। वह फल क्या है। वह फल है शान्तिका अनुभव, आत्माके शुद्ध स्वच्छ स्वरूपका दर्शन, जो निर्विकल्प है, केवल ज्योति स्वरूप है, सबसे अछूता है निर्मल है। ऐसा यह मैं मात्र अपने ही परिणमनका अधिकारी हूँ। यह मैं हूँ और अपनेमें ही परिणमता हूँ इतना ही मात्र मैं हूँ। ऐसे निज प्रभुके दर्शन हों यही धर्मका पालन है और ऐसे चैतन्य स्वभावका दर्शन करिये तो सही स्वयं ही अनुभवमें आ जायगा कि हाँ तत्काल ही शांति मिली। जब बाह्यका लगाव न हो तो शांति तत्काल है।

ज्ञानका आनन्दोत्पादकत्व स्वभाव—यह शुद्ध ज्ञान आनन्द और शान्तिको प्रकट करता हुआ उत्पन्न होता है। हम शुद्ध ज्ञानका उपयोग करें और आनन्द न मिले ऐसा कभी नहीं हो सकता है। एक छोटी कथामें बताया है

कि एक नई बहू जिसके पहिले ही पहिले बच्चा होना था सो अपनी साससे कहती है, माँजी, जब बच्चा पैदा हो तो हमें जगा लेना, ऐसा न हो कि सोते में ही हो जाय। उसे पता न था कि जगाता हुआ ही बच्चा पैदा होता है। बोली बेटी मत घबड़ावो। बच्चा जब पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। जगानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी तरह अज्ञानी कहता है कि हम अपना ज्ञानरूप परिणमन करेंगे, जब हमें आनन्द मिले तब कोई बता देना। अरे यह ज्ञान ऐसा ही स्वरूप रखता है कि जब यह प्रकट होगा तो आनन्दका विकाश करता हुआ ही प्रकट होगा। जिस क्षण ज्ञान बने उसी क्षण आनन्द है।

ज्ञान और अज्ञानका अन्तर—हम इतनी लौकिक जानकारियाँ रखते हैं यह ज्ञान नहीं है। यह अज्ञान है। जो ज्ञान खुदको न छू सके वह कैसे ज्ञान कहा जाय। वास्तविक ज्ञान वह है, जो खुदको जान सके। जो ज्ञान इन सबको जान रहा है, उसका भी जो जाननहार है वह ज्ञान है, जो स्वयं को नहीं जान पाता वह ज्ञान नहीं है, अज्ञान है। ज्ञान उत्पन्न होगा तो सत्य, शुद्ध सहज आनन्द प्रकट करता हुआ उत्पन्न होगा। हम अपनी चर्या में धर्म करनेके लिए एक पौन घंटा जो भी रखें वह केवल धर्म करनेके लिए रखें। इसमें अपने धर्मके विकाशको अवसर होगा।

साधुके जीवनका उद्देश्य—परपदार्थ सभी इस जीवकी आकुलताके कारण बनते हैं। इस कारण समस्त परपरिग्रहोंका त्याग करना ही चाहिए। ज्ञानी गृहस्थ संत वैराग्यसे भरपूर होकर घर वैभव वस्त्र सबका त्याग करके साधु होते हैं पर अभी शरीरका सम्बन्ध लगा है और भूख प्यासकी बाधा लगी हैं जैसे यहाँ लोग कहते हैं कि एक भूख प्यास न होती तो गृहस्थोंको चक्कर ही न था। सब मजेमें थे। भूख प्यासकी बाधा होना गृहस्थोंको असह्य है ऐसे ही भूख प्यासकी बाधा साधुवोंको भी तो असह्य है। गृहस्थ तो हाय कहीं मर न जाये, मर गये तो इन बाल बच्चोंकी कौन रक्षा ररेगा ? इस परिणाम से भी जिन्दा रहना चाहते हैं। और, जिन्दा रहनेका साधन है खाना पीना किन्तु साधुजन इस दृष्टिसे जिन्दा रहते हैं कि कहीं संक्लेश परिणाम न हो जाय, नहीं तो पाप होगा और ऐसी स्थितिमें असमाधिमरण हो जानेसे संसारमें जन्म मरण अनेक लेने पड़ेगे।

साधुके आहारका उद्देश्य—संक्लेश परिणामोंके बचानेके लिए, संक्लेश सहित मरण न हो जाय यह ध्यान रखकर और अभी उपादान इतना प्रबल नहीं है कि हम मोक्ष मार्गमें निर्बाध आगे बढ़ते जायें सो अभी आत्मबलमें

दृढ़ता लानेका काम पड़ा है इसलिए जिन्दा तो रहना ही पड़ेगा। इस कारण जीवन रखनेके लिए साधु आहारको आते हैं। खाना पड़ा ना, सो और ऐत्र साथ लग गये। अब शौच भी जाना पड़ेगा। मूत्र भी करना पड़ेगा और आहार खोजनेके लिए भी जाना पड़ेगा। अब तो चलनेकी भी नौवत आ गई और इसी कारण लोगोंसे बोलनेकी भी नौवत आ गई। समाजसे भी कुछ सम्बन्ध हो गया। ऐसी स्थितिमें कमण्डल पीछीका रखना आवश्यक हो गया। कमण्डल और पीछी साधु के लिए जरूरी चीजें नहीं हैं। पीछी कमण्डलसे मोक्ष होगा क्या? किन्तु चलना, आहार करना इनके लग वैठा इसलिए कमण्डल पीछी रखना आवश्यक हो गया। भूख प्यास न हो या आहार को न जाना पड़े, कहीं चलना उठना न पड़े, बोलना न पड़े तो पीछे कमण्डलकी क्या जरूरत? ये तो कुछ कमजोरीपर आवश्यक हो गये हैं। और कमजोरियाँ है सभीमें। बाहुवली जैसे सब कोई गृहस्थ तो न वन जायेंगे कि साधु हुए और खड़े-खड़े मोक्ष गये। हिलने डुलनेका काम नहीं। इसलिये मुनिको व्यवहारधर्म चलानेके लिए ये शुचि, ज्ञान व संयमके उपकरण जरूरी हो गये।

साधुके किसीके कहीं पर कदाचित् किसी प्रकार कभी कोई उपाधि निषेधके योग्य नहीं है, रखना आवश्यक है, इसका उपदेश श्री कुन्द कुन्द महाराज अब अगली गाथामें कहते हैं।

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥

संयमके साधक उपकरण—जिस उपकरणके द्वारा शुद्धोपयोगरूप सयमका विनाश नहीं होता है वह उपकरण निषेधके योग्य नहीं है। उपकरणकी आवश्यकता कव पड़ती है? जव चलना बोलना आवश्यक होता है, चीजोंके उठानेका और धरनेका काम होता है तव उपकरण की आवश्यकता होती है आहार, यह ग्रहणका काम है ना? पुस्तक उठाना यह ग्रहणका काम है ना? है, इसी प्रकार पुस्तक रखना यह धरनेका काम है। मल, मूत्र, कफ, थूक करना ये तो क्षेपनके काम है। इस समय भी भूमिशोधनकी आवश्यकता होती है। इसलिए उपकरण को स्वीकार करने वाले साधुके संयमका विनाश नहीं माना।

मूलमें अल्प शिथिलताका परिणाम—थोड़ा-थोड़ा बढ़ कर किसी रूढ़िमें आकर अपने मनको स्वच्छन्द बना ले तो यह सब कुमतिका फैलाव है। जैनदर्शनकी पद्धतिमें मूलमें एक बारके भोजनका विधान था और श्वेता-

म्वर शास्त्रोंमें भी एक बारका विधान रखा है, केवल कोई रोगी बहुत उपवासोंसे थक गया हो, बड़ा परिश्रम करके आया हो, वृद्ध हो उस साधु को दूसरी बार कोई औषधात्मक पेय देनेका विधान है, यह लिखा हुआ है। पर एक तो गृहस्थके घर जाकर ही खाना पीना होता तो यह एकबार और दो बार का फिर भी चलता रहता, पर गृहस्थके घरसे लेकर घर पर खानेकी बात है तब उसमें शिथिलता बढ़ती जायगी। बचा हुआ भोजन हो, एकबार और मिले, दो बार और मिले। जब बचा हुआ एकबार दो बार और भी खाया जा सकता है, कई बार खानेका संकोच मिट गया तब दो बार लेने आये, तीन बार लेने आये, यों लेनेकी बारका भी संकोच मिट गया, सब बन्धन ढीले हो गये।

मूल की धारणा—दिगम्बर सम्प्रदायमें एक बारके भोजन की परम्परा अब तक क्यों चलती आई इसका कारण है कि गृहस्थके घर में जो मिले वहाँ भोजन करें, यह परम्परा चली आई। और इस कारण खाने पीनेके मामलेमें तो स्वच्छन्दता नहीं चल सकती, पर सम्भव है कलिकाल के दोष से खाली दिमाग सैतानका घर, इस नीतिके कारण खाली बैठे हैं तो और सम्भावित विषयोंका विवाद बन जायगा, पर शारीरिक मौलिक क्रियायें अब तक बराबर चल रही हैं।

संयमके बाधक साधन—जिनसे संयममें दोष नहीं होता बल्कि संयमके दोपका प्रतिषेध होता है, वे उपकरण तीन हो सकते हैं पीछी, पुस्तक और कमण्डल। अन्य उपकरण संयमके छेदके कारण होते हैं। जैसे वस्त्रों का रखना, अच्छे वस्त्र, मुलायम वस्त्र, रेशमी वस्त्र। आजकी परम्परामें देखो कि जिस सिद्धान्तमें वस्त्रोंको उपकरण माना है वहाँ बढ़ियासे बढ़िया वस्त्र रखनेकी परम्परा चल उठी। दिगम्बर सिद्धान्तमें क्षुल्लक व ऐलक वस्त्र रखते हैं पर वस्त्रोंको उपकरण नहीं माना। वस्त्रोंमें कमजोरी माना। इस कारण बढ़िया वस्त्र रखनेकी परम्परा दिगम्बरसिद्धान्तमें न चल सकी। उपकरण मान लिया जाता तो ग्लानि न रहती। अभी तो वस्त्र लेते हैं तो ग्लानि अनुभव करते हैं। रखना पड़ रहा है। और उपकरण मान लिया जाय तो ग्लानि न लगेगी। यह भाव हो जाता कि इसमें कोई दोष ही नहीं है। फिर अन्तरङ्ग भावोंमें उसके प्रति निरादरबुद्धि नहीं हो सकती थी।

स्वच्छन्द भोजनके साधन—पात्रों बर्तनोंका रखना भी बहुतसे विकारों का मूल है। फिर क्या है। जैसे आप घरमें खाते है। वैसे ही पात्र रखने पर

और ले जाने पर हमने भी घर में खाया। फर्क इतना है कि आप कमाकर खायेंगे और हम भिक्षावृत्ति से खायेंगे। कमाकर खानेमें खाने वाला भोजन में स्वच्छन्द नहीं हो सकता, पर भिक्षा लेकर खाने वाला भोजनमें स्वच्छन्द हो सकता है इस कारण पीछी, कमण्डल, शास्त्रके अतिरिक्त वस्त्र पात्र आदि कुछ उपाधि रखना संयमके दोषका कारण है। अन्य उपाधिसे हित-साधनाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

क्षेत्र कालके अनुसार प्रवृत्ति—आचार्य देवका यह भी उपदेश है कि हे साधुजनो! क्षेत्र और काल जानकर कुछ इस प्रकारकी प्रवृत्ति करो जिससे संयमका छेद न हो, सो गर्मीके दिन आये तो यह उपाय नहीं करता कि क्षेत्र काल जान कर प्रवृत्ति करनेका उपदेश दिया है तो गर्मीके दिन है, घड़ा भर कर पासमें रखलें यह बात नहीं है। गर्मीके दिन आरहे हैं तो हम अपना विहार गर्मीके दिनोंमें गर्मी वाले क्षेत्रमें न करें, यह सावधानी है। यह क्षेत्र बड़ा बेढ़ब है, विधर्मी लोग अधिक रहते हैं, ये उपद्रव, उपसर्ग बहुत करेंगे, यदि ध्यान है इतना, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस क्षेत्र में जावे और कपड़े पहिन कर जावे कि कपड़े पहिन कर जावगे तो उपसर्ग नहीं होगा। यदि यहाँ क्षेत्र खोटा है तो इस ओर बिहार न करो, सुक्षेत्रमें चल दिया जाय। क्षेत्र काल जानकर वर्तनेकी यह सावधानी है।

साधु व श्रावकोंको परस्पर कर्तव्यकी चिन्तना—आजकल जो साधुजनों को श्रावकोंके यहाँ आहारका मेल नहीं खाता उसका कारण क्या है? याने थोड़े घर भोजन बने, सोच समझ कर बनें, यत्न करके आहार बनें, साधु निकट आये तो पहिलेसे भाइयोंसे मन्त्रणा करे कि बुलायें या न बुलायें कैसा आहार करते हैं? यह सब क्यों कठिन होगया ? यह यों कठिन हो गया कि साधु तो अपनी वृत्तिपर डटे रहे। आगममें इस ढंगसे ही निर्दोष आहार करना लिखा है सो हमें आगमोक्त चर्या करना है। और श्रावक जन अपनी प्रवृत्ति से गिर गये। चक्कियाँ चल गई हैं वहाँ से आटा पिसायें, नल चल गये हैं उनका कान एेंठ कर पानी अपने रसोईघरमें ले आयें, अनेक चीजें बनी बनाई ले आये। जैसा साधुका काम चर्याके समय जानेका था और आहार करके आनेका था ऐसे ही श्रावकका काम निर्दोष शुद्ध भोजन करने का था और भोजन करनेसे पहिले साधुवोंको पड़गाहनेका काम था। एक ओरकी रस्सी टूट गई तो फिर वह कार्य क्या बनेगा।

अहिंसावृत्तिकी अपरिवर्तनीयता—अब ऐसी स्थितिमें कोई लोग यह सलाह देते हैं कि अब तो साधुवोंको अपनी चर्यामें परिवर्तन करना

चाहिए। समस्या बिकट है। साधु अपनी आहारचर्यामें परिवर्तन करें या श्रावक अपने कर्तव्योंका स्मरण करें? यह समस्या आज समाजमें हो गई है। हाँ जो वाते वढ़ा रखी है साधुवोंने त्यागसे, उनका तो संशोधन किया जाय, जैसे बेकार लोग भी अव अनेकों पंचा दुपट्टा ओढ़ कर निकलने लगे? अव्यवस्थाके कारण या किसी कारण घर छोड़ दिया और पैसा भी हाथमें रखेंगे, ऐसा विचार रखा तो विडम्वनाकी चीज हो गई। अरे घर छोड़ा तो पैसे भी छोड़ो। फिर ती समाजमें त्याग निभ जायगा। घर तो छोड़ा पर पैसेका कहाँ त्याग किया? कहेंगे हम तो दूसरी प्रतिमामें हैं, तीसरी-प्रतिमा में हैं, सातवीं प्रतिमा तक पैसा छोड़ना कहाँ वताया? यह वात है तो सातवीं प्रतिमामें घरपर रह कर भी तो धर्मसाधन वताया है। घरमें रहो, कमाओ खावो यह उत्तर न होगा क्या? परघर भोजनका सम्वन्ध है तो पैसेका सम्वन्ध छोड़ो। पैसेका त्याग न होने से यह होगा कि जोड़ा संचय किया और फिर रुपया कुटुम्वको भेज दिया। ऐसी तो अनेक घटनाएँ सुननेमें भी आती हैं। या कोई घरका आया उसे दे दिया। ऐसा करनेसे समाजमें रुतबा कहाँ रहा?

प्रभावका साधन—रुतबाका साधन तो ज्ञान है और परोपकार है। किसी मनुष्यका प्रभाव अगर समाजमें रह सकता है तो परोपकारसे रह सकता है। परोपकारके विना समाजमें प्रभाव नहीं हो सकता है, चाहे नेता हो या साधु, या गृहस्थ परोपकारके लिए तो बड़ा आलस्य है क्योंकि पर्याय बुद्धि लगी है। यह हम सब अपनी अलोचनाकी बातें कर रहे हैं। तन भी न लग जाय मन भी न लगे और बचनोंकी भी कंजूसी न छोड़े तो ऐसी स्थितिमें समाजपर प्रभाव कहाँ रहा? प्रभाव डाले विना समाजसे पैसा और आराम मिले कैसे सो अटपट शोध व कठिन आहारकी वात बढ़ा दी, सो जो व्यर्थकी वातें हैं वे कम की जा सकती हैं। खैर कुछ भी हो, श्रावकोमें शुद्ध भोजनपानसम्वन्धी शिथिलता अधिक हो गई है पर श्रावक तो श्रावक ही है। वह कुछ बंधनमें तो नही है, आज बड़ी भक्ति करनेवाला गृहस्थ कल मन्दिर छोड़ दे तो उसपर कोई नियंत्रण तो नहीं है, पर यहाँ तो नियम और संयम ग्रहण किया है त्यागीने और साधु ने। उसपर तो पूरा नियंत्रण है। वह तो संयमकी पद्धतिसे रहता ही है। इस प्रकरणमें यह वतला रहे हैं कि चाहे कैसी ही स्थिति हो जाय पर साधु तो परमेष्ठी है। उसे तो मार्गसे कभी विचलित नहीं होना है; चाहे अविरत श्रावक विचलित हो जाय।

परमेष्ठीका महत्त्व—शुद्धस्वरूपी अरहंत सिद्ध देव, आत्मविकासके यत्नशील आचार्य उपाध्याय साधु इनकी नव देवतावोंमें श्रेणी है। वहाँ यह न चलेगा कि भाई हम श्रावक लोग कितना गिर गये हैं चलो साधु तो हमसे अच्छे हैं, कुछ तो करते ही हैं। वहाँ कुछ न देखा जायगा वहां सब देखा जायगा। ऐसा ही उपकरण रखा जा सकता है जिस उपकरणके कारण संयममें छेद नहीं हो सकता है। उत्सर्गमार्ग तो यह हो कि आत्म-द्रव्यका चूँकि द्वितीय पुद्गलद्रव्य आदि कुछ नहीं है इसलिए सर्व प्रकारकी उपाधि त्यागना चाहिए। एक मार्ग है उत्सर्गका पर कुछ दूसरी चीज रखने की और ज्ञान सुधारसका स्वाद लेनेके अतिरिक्त और कुछ करनेकी जो प्रवृत्ति होती है। वह अपवाद है। एक अनुकूल अपवाद होता है और एक प्रतिकूल अपवाद होता है। साधु अनुकूल अपवादमें रह सकता है।

अपवादमार्गकी वृत्तिका हेतु—वह अपवादका काम साधुसे क्यों बनता है कि कुछ मिश्र काल क्षेत्रकी परवशता हो जाती है। जब यह साधु सर्व प्रकारके परिग्रहके त्यागको ग्रहण करके व संयमको धारण करके अपनी साधनामें चलता रहता है तब वह परम उपेक्षा संयममें है व उसकीही उत्सुकता है। विशेष-विशेष प्रकारके काल और क्षेत्रमें इसको पड़ जाना पड़ता है, उससे इसकी शक्ति कुछ रुक जाती है, वह इस श्रामण्यको, उपेक्षा संयमको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है तो उससे गिरकर उस उपेक्षा संयमकी भावना रखता हुआ इन वहिरङ्ग साधनोंको मात्र निर्वाहके लिए ग्रहण कर लेता है।

साधना—अन्तरमें प्रश्न हो कि क्या बनना है हमें ? तो उत्तर हो केवल बनना है, साधु भी हमें नहीं बनना है। साधु भी यही सोचते हैं कि हमें बनना है केवल। केवल बननेके लक्ष्यमें जो ऐसा निर्ग्रन्थ रूप बन जाता है उसे कहते हैं साधुपद। साधुके मूल उद्देश्यमें यह बात नहीं है कि हमें साधु बनना है। मैं साधू हूँ, मुझ साधुके योग्य काम करना चाहिए, साधुके लक्ष्यमें यह नहीं रहता है। उसकी श्रद्धामें यह रहता है कि मैं केवल हूँ, मुझे केवल बनना है। हमें अपना कैवल्य देखना है, Pure ही अनुभवना है। वह केवल अपना सहज स्वरूप तकता है यही उसके चित्तमें रहता है। पर करता व्यवहारमें वह सब है जो कि साधुके २८ मूल गुण बताये हैं। गृहस्थ जनोंकी श्रद्धामें भी यह बात रहना चाहिए कि मेरे जीवनका अन्तिम लक्ष्य क्या है, प्रधान उद्देश्य क्या है ? मेरा प्रधान उद्देश्य साधुवत् है। उससे कम उद्देश्य हमारा नहीं है। वे साधु कुछ करके दिखा रहे हैं। हम करके नहीं दिखा

रहे हैं। पर हमारा और साधुका लक्ष्य एक है। कोई अन्तर नहीं है।

लक्ष्यकी सिद्धिके लिए उपलक्ष्य—हमें क्या बनना है? केवल खालिस मैं आत्माराम मात्र रहूँ। उसमें परका सम्पर्क न रहे, ऐसा केवल पवित्र सहज मैं रहूँ यह ही लक्ष्य गृहस्थका है। फिर और-और उपलक्ष्य जो बनते हैं वे प्रधान लक्ष्यकी साधनाके लिए बनते हैं। जैसे किसीको एक महल बनवाना है सो प्रधान लक्ष्य है महल बनवाना। अच्छा, भाई कार्यकर्ता लोग बैठ गए। आजका प्रोग्राम बनाया। क्या-क्या करना है। भट्टेवालेके पास जाना है व ईटोंको तय करना है। सीमेंटके लिये सप्लाई आफीसरको दरखास्त देना है, ये सर्व कार्य लक्ष्यभूत नहीं हैं। सीमेंट पानेकी अर्जी महल बनवानेके लिये देगा। ईटोंका प्रबन्ध महल बनवानेके लिये करेगा। सब कुछ करता है पर उसका मुख्य लक्ष्य एक है, वह क्या कि उसे महल बनवाना है।

गृहस्थके लक्ष्य और उपलक्ष्य—इसी प्रकार गृहस्थधर्ममें धर्मके लिए पचासों काम करने हैं। भादों आयगा, सजावट भी होगी, पूजनके स्थान भी बढ़ाये जायेंगे, छन्नों की सफाई होगी। कितनी ही बातें होंगी, विधान भी रचे जायेंगे, शास्त्र सभा भी कुछ ज्यादा समय तक होगी। अनेक काम चलेंगे, पर बाह रे गृहस्थ इन अनेक कामोंमें रहते हुए भी केवल एक प्रधान लक्ष्यको बसाये हुए है वह, मुझे तो केवल बनना है, शुद्ध चैतन्य स्वरूपकी आराधना करना है। यदि ऐसा लक्ष्य है तो हे गृहस्थ तू धन्य है। और खटपटोंमें लक्ष्य बन जाय तो हे गृहस्थ तुम कितना भी श्रम करलो, दशलक्षणीके समारोह भी करलो पर तुम अभी वहींके वहीं हो। चाहे जितना श्रम करलो, पर लाभ कुछ नहीं होगा।

आशयशुद्धिका पुरुषार्थ – भैया! स्वभावके विकासका लक्ष्य हो जानेसे सब काम तुम्हारे साधक बन जायेंगे। और लक्ष्यशुद्धि न होनेपर ये सारे व्यवहारधर्मके काम कोरे रह जायेंगे। यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण हैं। अब तक ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जहाँ इस जीवने अनेक बार जन्म न लिया हो और मरण न किया हो। और जिस असावधानीमें, दुर्गतियोंमें अनन्तकाल बीते ऐसे ही यदि रहोगे तो इसका फल यह ही होगा कि अनेक बार जन्म मरणके चक्रमें जाना होगा। अभी तो अनन्तकालके लिए पूर्ण स्वच्छ हो जाना निर्दोष हो जाना सत्य आनन्दमय हो जाना यह काम बहुत बड़ा पड़ा है। उन स्त्री पुत्र वैभवोंमें मत उलझो। यह करना पड़ता है तो इतना समझो कि तुम पर आफत है। करना पड़ता है, प्रसन्न होकर तो इनमें न लग। यह मोहका संसर्ग प्रसन्नताकी बात नहीं है। ये तो डण्डे कोड़े

लग रहे हैं ऐसा समझकर अपने इस प्रधान लक्ष्यकी ओर आवो।

बाह्यमें अपनी अटकका प्रतिषेध—वाह्य संसर्ग जो अपने आप होते हैं, होने दो। लक्ष्मीकी अटक होवे तो आवो, न अटक होवे तो न आवो। हम सिद्ध प्रभुकी संतान हैं। वे भगवान हुये और हम उनकी संतान हैं। हे प्रभो! तुममें इतना साहस है कि तुम मेरी इतनी प्रार्थनाके वाद भी भीगे नहीं। वे भीगकर अपनी निर्मलताको न खोवेंगे। ऐसे हम भी साहसी बनें, हे लक्ष्मी तुम्हारी सौ बार अटकी हो तो हमारे पास आवो। नहीं तो, तुम हमारे पास से जावो, हमें कोई इतराज नहीं है। तुम्हारी हजार बार गरज पड़े तो मेरे पास आवो। इतनी हिम्मत तो होना चाहिये। और अपना प्रधान लक्ष्य वह मार्ग होना चाहिये जिससे चलकर अनन्त अन्तरात्मा अरहंत और सिद्ध शाश्वत सुखी हुए।

उत्सर्ग और अनुकूल अपवाद—साधुजनोंका उत्सर्गमाग तो है श्रामण्य, परम उपेक्षा संयम, ज्ञाता द्रष्टा रहना, परम समताका भाव रहना, इसके मुकाबलेमें जो २८ मूल गुणोंका पालन है, व्रत, तप समितिरूप आचरण है. यह अपवाद मार्ग है। अब इसमें भी यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसे उपकरणों में रहना युक्त नहीं है जिनसे संयमका विनाश हो। जिनके रखनेसे अंतरङ्ग संयमका घात हो जाय मूर्छा बन जाय, वह उपकरण आगममें नहीं बताया गया है। और ये पीछी, कमण्डल, शास्त्र तीनों उपकरण तथा उपदेशवचन, सूत्रवचन आदि युक्त साधन निषेधके योग्य नहीं है। इस प्रकरणमें यह बतला रहे हैं कि इस उपकरणसे संयमका दोष न जानना किन्तु ये उपकरण दोपके प्रतिषेधरूप हैं, दोषरूप नहीं है. दोषके मेटनेवाले हैं।

अनुकूल अपवादमार्गकी दोषनिवारकताका कारण—खोटे परिणामोंकी प्रेरणाके कारण जो वस्तु रखी जाती है वह दोष है, किन्तु खोटे परिणामोंके निवारणके लिए जो उपकरण रखे गये हैं वे दोषरूप नहीं है, किन्तु दोषके निवारक हैं। यह उपकरण दोषनिवारणार्थ रखा गया है। आहार, विहार आदि वृत्तियोंमें किसी वस्तुके धरने उठानेमें, प्रसगमें कोई दोप हो जाय, उस दोषके निवारणके लिए ये उपकरण रखे जाते हैं। कोई यह कहे कि ऐसे आहार,विहार, निहार करते ही क्यों हो कि जिससे उसमें सम्भावित दोषोंके निराकरणके लिए पीछी कमण्डलका पचड़ा लगाया जाय! उत्तर-उपादान तो उस दर्जेका अशुद्ध है जिस स्थितिमें मरण हो तो असमाधिमरणकी सम्भावना है, आत्मघात ही कहलावेगा। उससे क्या आत्मबल मिल जायगा? नहीं। वर्तमान स्थिति जिन साधुवोंकी ऐसी है कि उन्हें अभी बहुत साधना

करना बाकी है और इस देहबन्धनकी स्थितिमें साधना, निर्वाह शरीरके स्वस्थ व समर्थ होनेपर हो सकता है, यह शरीर उनके श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारण है। अतः तत्साधन भी आवश्यक कथंचित् हो गया।

उपकरणकी अप्रतिषेध्यताका परिचय—यहीं आप देखलें। पूजा करते हैं, हाव-भाव करते हैं, प्रसन्नतासे करते हैं पर यदि सिरदर्द हो जाय तो पूजा सब धरी रहती है और फिर कोई सद्विचार उत्पन्न होनेका भाव नहीं होता है। कोई कहे लो, हम तुम्हें पाठ सुना दें, तो सिरदर्दके मारे कहेंगे धरो पाठ, यहां तो सिर दर्दके मारे मरे जारहें हैं। कोई पाठ करता हो तो कहेंगे कि हल्ला मत करो, सिरदर्द बढ़ता है। तो आत्मसिद्धिका कारण संयम है, संयमका कारण शरीर है और उस शरीरकी वृत्ति रखनेके लिए कारण है, आहार। जब आहार करनेकी वृत्ति बनी है तो और भी अनेक काम करने पड़ते है, विहार करना, चलना, परिचय होना, कुछ धरना, उठाना कमन्डल शास्त्र इत्यादि। तो इस प्रवृत्तिमें कोई दोप लग सकता है सो उन दोपोंके प्रतिषेधके लिए ग्रहण किया गया यह उपकरण दोपरूप नहीं है किन्तु दोप के निवारकरूप है। यह शुद्धोपयोगका अविनाभावी संयमका साधनभूत है, यह हमें सावधान करनेके लिए है। इसलिए जो उपकरण प्रतिषेधके योग्य नहीं है उन उपकरणोंको ग्रहण करना चाहिए। अब जो उपाधि अप्रतिषिद्ध है, निषेधके योग्य नहीं है, रखी जा सकने योग्य है, उसका सामान्य स्वरूप बतलाते हैं :—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदिवियप्पं ॥ २२३॥

अप्रतिषेध्य उपकरणकी परिभाषा—जो उपकरण कर्मबंधका साधक नहीं होता जो उपकरण असंयमी जनोंके द्वारा वांछनीय नहीं होता जो उपकरण मूर्छा आदिके भावोंको न उत्पन्न करे ऐसे कुछ अल्प उपकरण श्रमणजन ग्रहण करें। यह सामान्य परिभाषामें कहा है। जिस उपकरण को देखकर ममता बने वह उपकरण नहीं, किन्तु परिग्रह है। यदि कमण्डल पीछी भी सुन्दर बनाएँ, चमकदार बनायें, सुहावनी बनाएँ ऐसी स्थितिमें वह उपकरण तो है ही मगर मनको सुहावना लगनेसे परिग्रह भी बन गया। जो वस्तुएँ हमारी ममताका कारण बनें वे सब हमारे परिग्रह हैं। ऐसी चीज नहीं रखी जा सकती जिसको असंयमीजन भी चाहे। अब देख लो यह काठ का कमण्डल १५ रुपयेसे कमका नहीं आता और कहो, २५ रुपये तकमें आवे और पीतल आदि धातुके कमण्डल सस्ते आ जाते हैं, पर धातुके कमण्डलों

को असंयमीजन चुरा सकते हैं। धातुके कमण्डल असंयमीके काममें भी आते। पर यह कमण्डल चाहे जहाँ पड़ा है तो पड़ा है। असंयमीजन इसके चुरानेकी भावना नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें रखना नहीं है, कहाँ रखेंगे। यह साधुवोंके ग्रहण करने योग्य उपाधिको व्याख्या है।

परिग्रहके प्रति गृहस्थका कर्तव्य—अब यह भी विचार करो कि गृहस्थ-जन क्या करें ? गृहस्थोंके पास अधिक पैसा न हो तो क्या और हो तो क्या, उन्हें उदयानुसार जो कुछ प्राप्त होता है उसी में संतोष करना चाहिए। उसमें ही गुजारा करनेका तप करना चाहिये। यह गृहस्थोंका शांतिके लिए बहुत बड़ा काम है। दूसरोंका आराम देखकर, दूसरोंका वैभव देखकर मनमें तृष्णाका भाव आना यह जैन शासनके बाहरकी बात है। ऐसा प्रभु का हुकुम नहीं है। इस संसारको असार जानो। जो जन आज विशेष धनिक हैं उनका वह वैभव पूर्वकृत पुण्यका फल है, लेकिन सारभूत कुछ नहीं है। आ गया वैभव, उस वैभवसे आत्माकी कुछ सिद्धि नहीं होरही है। सब असार है, मायारूप है। दूसरोंके वैभवको देखकर अपनेमें तृष्णा न आने देना। ऐसा जिस गृहस्थमें ज्ञानबल है, उसकी महिमा क्या कम है ? सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पुरुष तृष्णामें नहीं पड़ते हैं। जो है उसमें गुजारा प्रसन्नता से करते हैं।

ज्ञानबल और बाहिसाब गुजारा—यथार्थ ज्ञानके कारण आकुलताएँ खड़ी नहीं होती हैं। कभी यह काम पड़ा है, यह तो करना ही होगा, ऐसे ही खाते पीते आये हैं. इतना तो खर्च करना ही होगा; ऐसा उनके लिए कुछ नहीं है। जैसे संस्थाओंका बजट बनता है। आयका जरिया अच्छा है तो उस लायक बजट बन जाता है। और आयका जरिया मिट गया तो उस लायक बजट बन जाता है इसी तरह घरको भी एक कमेटी समझो। ये उस कमेटीके सदस्य हैं। जितनी आय है उसके अनुसार बजट बन गया। इसमें किसी वर्ष सूखी ही रोटी खाना पड़े तो भी प्रसन्न रहो व धर्म को न भूलो। मनुष्य जीवनका मुख्य लक्ष्य धर्मका पालन है उससे विचलित न होओ। ये तो परिस्थितियाँ हैं। ये कोई कठिन परिस्थितियाँ नहीं हैं। नर्कोंमें तो इससे भी अनगिनती गुनी कठिन परिस्थितियाँ हैं। तिर्यंचोंमें और भिखारी जनोंमें इससे भी अधिक कठिन परिस्थियाँ हैं वैभवोंमें गुनतारा कुछ न लगावो। कुछ ज्ञान और आचरणको सही बनाओ।

व्यर्थ संचयका अनौचित्य—भैया ! किन्ही गृहस्थोंकी ऐसी फालतू आदत होती है कि वे बाजारमें चले जारहे हैं। रद्दी सामान धरने वाले

लोग जिन्हें कबाड़िया बोलते हैं, उनके पास जो चीजें सस्ती हैं खरीद लिया। जिनकी जरूरत नहीं है और जरूरतकी निकटमें सम्भावना नहीं है, ऐसा कबाड़खाना अपने घरमें बना लिया जाता है। ये सब भ्रमानेवाली बातें हैं। ज्ञानी गृहस्थ अपनी आवश्यकताके अनुसार श्रम करता है फिर भी उसके तो संचयकी धुन नहीं है। खानेको तो आया उसमें ही व्यवस्था बन जाती है। अन्तमें मरण तो होगा ही, सब कुछ छोड़ कर भी जाना पड़ेगा। जीवनका समय शांतिसे व्यतीत हो, यह बहुत बड़ा काम आगे है।

मरणसमयकी सावधानी अत्यावश्यक—भैया! छोटी-छोटी बातोंमें हाले फूले न फिरो तो जिस समय प्राण निकल रहे हों उस समय शांति एवं ज्ञानकी व्यवस्था बन जायगी। यह सबसे बड़ा काम है। जब घरके वैभवको भैयाको, परिवारको सबको छोड़कर जारहे हो, सदाके लिये जारहे हो एक मिनट बाद कोई काम न आयगा तब थोड़े समयका व्यर्थ विकल्प क्यों रखा जाय। अब भी कोई काम नहीं आरहे हैं जैसी पद्धति पूर्वक मरण होगा वैसा ही अगले जीवनका पूरे ढांचेका आधार है। सब जीवनके ढांचेका आधार मरणसमयका परिणाम है। ऐसी स्थितिमें बिलबिलाके मरे, क्लेशसे मरे, हा हा करके मरे तो कितना अकल्याण है। क्या कोई यह कल्पना करेगा कि अभी तो जीवन बहुत बाकी है? जब मरण समय आ जायगा तब सावधान हो जायेंगे, यह सोचना व्यर्थ है उस समयकी सावधानीकी तैयारी अभीसे ही करना है। अपना चित्त असंतुलित न रहे, ऐसी बात अभी से करना है। न करें अभीसे तो आगे ऐसा नहीं किया जा सकता है। वर्तमान शिथिलता भावी दृढ़ताकी साधिका नहीं होती।

आत्महितके लिये शीघ्रता—यह मन बड़ा चंचल है। इसको चंचलताके लिये छोड़ दिया तो क्या आगे अचंचलता हो जायगी? क्या ऐसी आशा की जा सकती है? देखो भैया! हम आप कोई ४० वर्षका, कोई ५० वर्षका है, कोई कितने वर्षका और यह सोचरहे हैं कि समय बहुत हैं, धर्मसाधना आगे कर लेंगे। अरे उन बालतपस्वियोंको तो देखो। सुकौशल, राजकुमार और लक्ष्मणके आठ बेटे और-और भी हैं। उनका ध्यान तो करो। क्यों जल्दी मचाई उन्होंने? आत्मकल्याणके लिए जितनी जल्दी मचा सको करलो। अचानक रोग घिर आयगा, बुढ़ापा आ जायगा, पापोंका उदय आ पड़ेगा उस समय क्या कर लोगे? बड़ी सावधानीकी जरूरत है। बड़ा होना हो तो शुद्ध परिणामोंकी वृत्तिमें अपना बड़प्पन समझो।

परमार्थ वंशकी पवित्रता—बड़े-बड़े धनी नहीं रहे। बड़े-बड़े बलवान

भी नहीं रहे। कौरव पाण्डवका जमाना जिस समय था उस समय कितनी चहल-पहल होगी ? कितना प्रभाव होगा, परपराता बोलता होगा ? पर कुछ उनका निशान भी है अब ! उनके कुटुम्बका कोई चलाने वाला भी है क्या ? यह पर्यायबुद्धि व्यर्थ है कि मेरा नाम चले; लड़का होगा तो वह नाम चलायेगा, वंश चलायेगा, कुल चलायेगा और अगर मर गये तो कहाँ गये ? मानलो कुत्ता गधा हो गये तो अब तुम्हारा कुल क्या है। कोई नहीं, कुल तो तुम्हारा है चैतन्य भाव, आत्मस्वरूप, जिसकी परम्परा नहीं छूटती, वह मुझमें अनादिसे अनन्त काल तक है। उस वंशको ठीक करिये तभी पुत्र कहलायेंगे। वंशं पुनाति इति पुत्रः जो वंशको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। हमारा वंश है चैतन्यस्वरूप। अपने चैतन्यस्वरूपको निर्मल करके अपना वंश पवित्र बनाओ।

दृष्टिसे दृष्टिके अनुकूल स्वाद—भैया ! अपनी दृष्टिमें संसारका भ्रमण भी साररूप न जचे इतनी सावधानी है तो आत्मकल्याणकी पात्रता आती है। हम किसी स्थितिमें हों, दृष्टि निर्मल बनाये रहें। एक चुटकुलामें बताया कि राजा और वजीरकी बात होरही थी। राजाने कहा मुझे ऐसा स्वप्न आया कि दोनों जारहे थे। सो रास्तेमें दो गड्ढे मिले। एक गड्ढेमें शक्कर भरी थी और एकमें मैला गोबर, कूड़ा आदि। तो वजीर तुम तो गिर गये मैलाके गड्ढेमें और हम गिर गये शक्करके गड्ढेमें। वजीर बोला हुजुर मुझे भी ऐसा स्वप्न आया कि हम तो गिर गये मैलावाले गड्ढेमें और आप गिर गये शक्कर वाले गड्ढेमें, पर उसके आगे मैंने यह और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। तो देखो वजीर है मैलेके गड्ढेमें पर स्वाद आरहा है मीठाका। इसी तरह हम आपकी अवस्था एक कीचड़में पड़ी हुई जैसी है किन्तु ज्ञानबलसे यदि आत्माके शुद्ध सहज स्वरूपकी चर्चा हो, ध्यान हो, प्रभु स्वरूपकी भक्ति हो तो स्वाद ले रहे हैं मीठा-मीठा। पड़े हैं बुरी जगह पर उपयोगकी बलिहारी, ज्ञानकी पात्रता है कि वह मधुर-मधुर ही स्वाद दिलाता रहता है।

दृष्टि कर्तव्यसे भी उच्च आवश्यक—किसी तालाबके किनारे एक हाथ की ही चौड़ी पट्टी हो। लगातार उस पट्टीपर चलनेवाला आदमी यदि पट्टी पर निगाह धर कर चलता है तो भयभीत होता है और गिर जायगा, पर सामने जैसे पृथ्वीपर चलते हुए हमारी आपकी निगाह रहती है ऐसी निगाहमें चलते जायें तो डर नहीं रहता है। जिस जगहसे हम गुजर रहे हैं उसकी दृष्टि रखें तो बड़ी आकुलता मचती है, बड़ा क्लेश होता है। तुम

लोग जिन्हें कवाड़िया बोलते हैं, उनके पास जो चीजें सस्ती हैं खरीद लिया। जिनकी जरूरत नहीं है और जरूरतकी निकटमें सम्भावना नहीं है, ऐसा कबाड़खाना अपने घरमें बना लिया जाता है। ये सब भ्रमानेवाली बातें हैं। ज्ञानी गृहस्थ अपनी आवश्यकताके अनुसार श्रम करता है फिर भी उसके तो संचयकी धुन नहीं है। खानेको तो आया उसमें ही व्यवस्था बन जाती। अन्तमें मरण तो होगा ही, सब कुछ छोड़ कर भी जाना पड़ेगा। जीवनका समय शांतिसे व्यतीत हो, यह बहुत बड़ा काम आगे है।

मरणसमयकी सावधानी अत्यावश्यक—भैया ! छोटी-छोटी बातोंमें हाले फूले न फिरो तो जिस समय प्राण निकल रहे हों उस समय शांति एवं ज्ञानकी व्यवस्था बन जायगी। यह सबसे बड़ा काम है। जब घरके वैभवको भैयाको, परिवारको सबको छोड़कर जारहे हो, सदाके लिये जारहे हो एक मिनट बाद कोई काम न आयगा तब थोड़े समयका व्यर्थ विकल्प क्यों रखा जाय। अब भी कोई काम नहीं आरहे हैं जैसी पद्धति पूर्वक मरण होगा वैसा ही अगले जीवनका पूरे ढांचेका आधार है। सब जीवनके ढांचेका आधार मरणसमयका परिणाम है। ऐसी स्थितिमें बिलबिलाके मरे, क्लेशसे मरे, हा हा करके मरे तो कितना अकल्याण है। क्या कोई यह कल्पना करेगा कि अभी तो जीवन बहुत बाकी है ? जब मरण समय आ जायगा तब सावधान हो जायेंगे, यह सोचना व्यर्थ है उस समयकी सावधानीकी तैयारी अभीसे ही करना है। अपना चित्त असंतुलित न रहे, ऐसी बात अभी से करना है। न करें अभीसे तो आगे ऐसा नहीं किया जा सकता है। वर्तमान शिथिलता भावी दृढ़ताकी साधिका नहीं होती।

आत्महितके लिये शीघ्रता—यह मन बड़ा चंचल हैं। इसको चंचलताके लिये छोड़ दिया तो क्या आगे अचंचलता हो जायगी ? क्या ऐसी आशा की जा सकती है ? देखो भैया ! हम आप कोई ४० वर्षका, कोई ५० वर्षका है, कोई कितने वर्षका और यह सोचरहे हैं कि समय बहुत हैं, धर्मसाधना आगे कर लेंगे। अरे उन बालतपस्वियोंको तो देखो। सुकौशल, राजकुमार और लक्ष्मणके आठ बेटे और-और भी हैं। उनका ध्यान तो करो। क्यों जल्दी मचाई उन्होंने ? आत्मकल्याणके लिए जितनी जल्दी मचा सको करलो। अचानक रोग घिर आयगा, बुढ़ापा आ जायगा, पापोंका उदय आ पड़ेगा उस समय क्या कर लोगे ? बड़ी सावधानीकी जरूरत है। बड़ा होना हो तो शुद्ध परिणामोंकी वृत्तिमें अपना बड़प्पन समझो।

परमार्थ वंशकी पवित्रता—बड़े-बड़े धनी नहीं रहे। बड़े-बड़े बलवान

भी नहीं रहे। कौरव पाण्डवका जमाना जिस समय था उस समय कितनी चहल-पहल होगी ? कितना प्रभाव होगा, परपराता बोलता होगा ? पर कुछ उनका निशान भी है अब ! उनके कुटुम्बका कोई चलाने वाला भी है क्या ? यह पर्यायबुद्धि व्यर्थ है कि मेरा नाम चले; लड़का होगा तो वह नाम चलायेगा, वंश चलायेगा, कुल चलायेगा और अगर मर गये तो कहाँ गये ? मानलो कुत्ता गधा हो गये तो अब तुम्हारा कुल क्या है। कोई नहीं, कुल तो तुम्हारा है चैतन्य भाव, आत्मस्वरूप, जिसकी परम्परा नहीं छूटती, वह मुझमें अनादिसे अनन्त काल तक हैं। उस वंशको ठीक करिये तभी पुत्र कहलायेंगे। वंशं पुनाति इति पुत्रः जो वंशको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। हमारा वंश है चैतन्यस्वरूप। अपने चैतन्यस्वरूपको निर्मल करके अपना वंश पवित्र बनाओ।

दृष्टिसे दृष्टिके अनुकूल स्वाद—भैया ! अपनी दृष्टिमें संसारका भ्रमण भी साररूप न जचे इतनी सावधानी है तो आत्मकल्याणकी पात्रता आती है। हम किसी स्थितिमें हों, दृष्टि निर्मल बनाये रहें। एक चुटकुलामें बताया कि राजा और बजीरकी बात होरही थी। राजाने कहा मुझे ऐसा स्वप्न आया कि दोनों जारहे थे। सो रास्तेमें दो गड्ढे मिले। एक गड्ढेमें शक्कर भरी थी और एकमें मैला गोवर, कूड़ा आदि। तो वजीर तुम तो गिर गये मैलाके गड्ढेमें और हम गिर गये शक्करके गड्ढेमें। बजीर बोला हुजुर मुझे भी ऐसा स्वप्न आया कि हम तो गिर गये मैलावाले गड्ढेमें और आप गिर गये शक्कर वाले गड्ढेमें, पर उसके आगे मैंने यह और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। तो देखो बजीर है मैलेके गड्ढेमें पर स्वाद आरहा है मीठाका। इसी तरह हम आपकी अवस्था एक कीचड़में पड़ी हुई जैसी है किन्तु ज्ञानबलसे यदि आत्माके शुद्ध सहज स्वरूपकी चर्चा हो, ध्यान हो, प्रभु स्वरूपकी भक्ति हो तो स्वाद ले रहे हैं मीठा-मीठा। पड़े हैं बुरा जगह पर उपयोगकी बलिहारी, ज्ञानकी पात्रता है कि वह मधुर-मधुर ही स्वाद दिलाता रहता है।

दृष्टि कर्तव्यसे भी उच्च आवश्यक—किसी तालाबके किनारे एक हाथ की ही चौड़ी पट्टी हो। लगातार उस पट्टीपर चलनेवाला आदमी यदि पट्टी पर निगाह धर कर चलता है तो भयभीत होता है और गिर जायगा, पर सामने जैसे पृथ्वीपर चलते हुए हमारी आपकी निगाह रहती है ऐसी निगाहमें चलते जायें तो डर नहीं रहता है। जिस जगहसे हम गुजर रहे है उसकी दृष्टि रखें तो बड़ी आकुलता मचती है, बड़ा क्लेश होता है। तुम

जारहे हो जावो, मगर देखो ऊँचे को, महान पदको, सत्य स्थितिको तो निर्भय होकर निर्विघ्न होकर अपने इष्ट पदमें, परमपदमें पहुँच सकोगे। गृहस्थावस्थामें और क्या किया जा सकता है ? यहाँ तो ज्ञानवलसे सुख शान्ति की जीत है।

प्रवृत्तिमें भी प्रवृत्तिसे पराङ्मुखता—प्रवृत्तिमें तो भैया ! श्रावक ऐसे जचते हैं कि ये तो अपने व्यापारमें इन्डस्ट्रीमें वहुत बुरे फसे हैं। पर इसे कौन जानता है कि ये उसमें लगे हैं और नहीं फँसे हैं ऐसी भी तो स्थिति होती हे। कैदी चक्की पीसरहा है, पासमें सिपाही डंडा लिए खड़ा है। बताओ क्या उसका मन चक्कीमें फँसा है ? मन तो चक्कीमें नहीं है पर करना पड़रहा है। जिस गृहस्थको मोक्षमार्ग दिख गया, अपनी शांतिका पथ मिल गया और शांतिका स्वाद भी आ गया, प्रभुका जैसा आनन्द है उस जातिके आनन्दका अनुभव हो गया, वह गृहस्थ कहीं फँसा नहीं है। वह अन्तरमें अवद्ध व निराकुल है।

अनाशक्तिका हेतु अन्यत्र दृष्टि—कभी आप भोजनमें कोई एक सरस चीज खा लेवे थोड़ीसी और बादमें फिर विल्कुल न दी जाय और दी जाय रोटी भाजी तो आप पेट तो भरेंगे मगर रोटी भाजीमें आशक्ति नहीं रही ? क्योंकि दिल लगा है मीठी चीजपर। यही सोचेंगे कि मीठी चीज क्यों नही परसते हैं ? वहाँ आशक्ति नहीं रहती है। यह दृष्टान्त है। वैसे तो स्वाद के लिये यहाँ बहुत आशक्ति है। किन्तु जो भोग रहे उसमें तो नहीं है। आप जिस चीजसे गुजर रहे हैं वहाँ मन नहीं है, मन और जगह हैं; इतनेके लिये आपका दृष्टान्त है। इसी प्रकार जिस गृहस्थने अवसर पाकर मंदिरमें एकान्तमें किसी जगह सर्व बखेड़ोंको छोड़कर स्वयं निसर्गतः प्रकट होने वाली एक निराकुलताका स्वाद ले लिया और समझलिया कि मेरा कल्याण तो इस स्थितिमें ही है और वाकी तो सब जेलखाना है, उस गृहस्थको किसी परिग्रहमें फँसाव नहीं है।

गृहस्थके मुख्य दो तप—साधु जन सर्व परिग्रहोंसे दूर हैं सो उनके उपाधिके वर्णनमें यह कहा जारहा है कि ऐसी ही चीज रखी जाती है जिसकी असंयमी जन इच्छा नहीं करते। पर गृहस्थोंको क्या कहा जाय ? उनके पास तो ऐसी ही चीज़ें हैं जिनपर संयमीजन दृष्टि ही लगाये रहते, उनके धनके छीननेवाले भी बहुत हैं। वे गृहस्थ क्या करें ? वे गृहस्थ वैभव को भाग्यपर छोड़ दें अपने अन्दरमें न लें। वे इतना ही करे। इससे आगे वे और क्या करें ? गृहस्थके ये दो वड़े तप हैं। एक तो यह कि जो उदया-

नुसार मिले उसे यह जानकर कि यह मेरी जरूरतसे कई गुणा ज्यादा है, संतोष रखें व उसके अन्दर ही व्यवस्था बनायें। एक तप गृहस्थका यह है और दूसरा तप यह है कि जो कुछ भी चीजे मिली हैं उनके प्रति अपना यह ख्याल रखे कि ये विनाशीक हैं, कभी मिटेगी अवश्य इनमें क्या हर्ष मानें। ये मेरी क्या चीजें हैं ? ये पर वस्तु हैं। उनके संयोगमें हर्ष न माने। ये दो तप गृहस्थको तत्काल शान्ति उत्पन्न करते हैं।

सुख शान्तिमें सहायक अपरिचितपना—गुरुजी कहा करते थे कि सुखसे रहना हो तो उल्लू बनकर रहो, चतुर बनकर न रहो। उसका अर्थ यह है कि चतुराई है, लोगोमें अधिक घुसना, उनसे परिचय बढ़ाना, उनमें अपनी कलायें दिखाना। यह चतुराई क्लेशकी ओर ले जाती है। और, उल्लू बनकर रहने का मतलब है किसीका कुछ न देखना, किसीको कुछ बतानेका मन न रखना। पड़े हैं, उसे कोई नहीं जानता है। वह किसीको नहीं जानता। उसे किसी वस्तुसे प्रयोजन नहीं। ऐसी अपनी धारणा बनाकर संतोषपूर्वक अपनी ओर भुके हूए रहना यही दुनियाकी निगाहमें उल्लू बनकर रहना है। सो लौकिक चतुराईसे पूरा न पड़ेगा अपने मरणसमयकी सावधानीकी तैयारी बनाओ इसमें ही अपने जीवनकी सफलता है।

अप्रतिषिद्ध उपाधिका उपसंहारात्मक वर्णन— परिणामोंकी सावधानीके अर्थ परिग्रहका त्याग किया जाता है, साधु पुरुष ऐसी ही उपाधि रख सकते है जो कर्मबन्धको करनेमें कारण न बने, जिसे असंयमी जन न चाहें, जो संयमीजनोंके ही योग्य हो, जिसका रखना धरना रागादिक परिणाम किए बिना होता रहे, जो मूर्च्छाभावको उत्पन्न करनेवाला न हो ऐसी ही उपाधि अप्रतिषिद्ध है। और, इस प्रकारके स्वरूपके विपरीत अल्प भी परिग्रह हो वह रखने योग्य नही है। यह वर्णन कर चुकनेके बाद अब आचार्य महाराज कहते हैं कि वस्तुधर्म तो उत्सर्ग ही है। अपवाद वस्तुधर्म नहीं है। चलना, आहार करना, समितिपूर्वक वस्तुको धरना, उठाना ये सब वस्तुधर्म नहीं हैं, ये अपवाद हैं, किन्तु ज्ञाता द्रष्टा रहना, रागद्वेषरहित समतापरिणाम में रहना यही वस्तुधर्म है।

किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहेवि।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्ति णिद्दिट्ठा ॥ १२४ ॥

गात्र परिग्रहकी उपेक्ष्यताका निश्चय—जो मुनि अपुनर्भवके अभिलाषी हैं, अपुनर्भव कहते हैं निर्वाणको, पुनः जन्म न हो उसे कहते हैं अपुनर्भव, अपुनर्भवकी अभिलाषावाले मुनिको देह भी परिग्रह जचता है, यह देह

भी आफत है। अपने संग लगा हुआ यह देह भी उन्हें नहीं रुचता है। जिनेन्द्र देवने बताया है कि ये साधुजन इतने निर्ममत हैं कि तन मन वचन की चेष्टाएँ भी ममत्वपूर्वक नहीं करते हैं, फिर अन्य परिग्रहोंकी तो बात ही क्या है। यह शरीर कहाँ हटा दिया जाय ? यह अप्रतिषिद्ध और फिर श्रामण्य पर्यायका सहकारीकारण है हटाया भी नहीं जा सकता है। ऐसा यह देह लग बैठा है वह भी पर द्रव्य है, परिग्रह है। वह भी मेरे अनुग्रहके योग्य नहीं है, मुझपर अनुग्रह करनेमें समर्थ नहीं है अथवा यह शरीर भी दयाके योग्य नहीं है, सम्हालनेके योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षा करने के ही योग्य है।

उत्सर्गधर्मका वास्तविक धर्मपना— जिसे केवल आत्मा चाहिए, जिसके वैराग्यकी अभिलाषा हो गई, जिसको मात्र वैराग्य ही प्रिय है, आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप ही जिसकी रुचिमें है ऐसे संत जन शरीरकी भी प्रीति नही करते, किन्तु आत्मशांति हो, ज्ञाता द्रष्टा रहें, केवल इतनी ही भावना है, तो जो शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिकी सम्भावनाके रसिक हैं ऐसे साधु पुरुषोंको अन्य परिग्रह बेचारे क्या लग सकते हैं ? यह आचार्यदेवका व्यक्त अभिप्राय है। साधु संतोंका यह व्यक्त प्रोग्राम है। इसलिए यह ही निश्चय किया जाता है कि उत्सर्ग ही वस्तु धर्म है, अपवाद वस्तुधर्म नहीं है। वस्तु-धर्म आत्मधर्म, आत्मस्वभाव, ज्ञानविकाशरूप है, इसकी सिद्धिके लिये परमनैर्ग्रन्थ्य ही धारण करना चाहिए। किन्हीं भी विवेकपूर्ण प्रवृत्तियोंमें हो फिर भी अन्तरमें यह प्रतीति रहना चाहिए कि मेरा जीवन तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेके लिए है।

समताका मूल ज्ञानानुभव— साधुता समतापरिणाममें है। अगर समता नहीं है तो साधुत्व फिर रहा क्या ? जैसा रागद्वेष इस संसारमें मोहियोंमें छाया हुआ है, ऐसा ही रागद्वेप जिसके छाया हो तो उसमे और इन लौकिक जीवोंमें अन्तर ही क्या रहा ? समता परिणाम बनानेसे नहीं बनता, किन्तु जो स्वयं समतास्वरूप है केवल ज्ञानमात्र ही है, जानन के अतिरिक्त अन्य कोई तरंग नहीं ऐसे निज ज्ञायक स्वभावका अनुभव होने पर समता आ ही जाती है। मैं मुनि हूँ, मुझे राग द्वेष नहीं करना चाहिए इन विचारोंसे समताकी जड़ नहीं बनती। मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ, इसका शुद्ध कार्य मात्र जानन है, इस प्रकारकी अन्तः अनुभूतिमें समताका मूल बनता है क्योंकि समता का तात्पर्य ज्ञातृता है।

गृहस्थका प्रभुपूजनमें लक्ष्य— हम गृहस्थ हैं। हमे भगवानकी पूजा

करना चाहिए, नहावो, पूजा करने चलो इस प्रकारके लक्ष्यसे पूजाके प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होगी, किन्तु मुझसे बड़े विरुद्ध कार्य हुए, बहुत राग द्वेषमें पड़े रहे, बड़ी यातनाएँ और आकुलताएं सहीं मेरा तो स्वरूप आनन्दमय था, ज्ञानस्वभावसे रहनेका था, पर इस गृहस्थजंजालमें पड़े, फसावमें रहकर विरुद्ध पथपर चले उस फसावको कम करनेके लिए, उस रागद्वेषके संकटसे बचनेके लिए प्रभुस्मरण करें, प्रभुपूजा करें, इन परिणामोंसे गृहस्थ पूजा करने आये तो उनके पूजाके प्रयोजनकी पूर्ति हो सकती है। हम भगवानकी पूजा गृहस्थके नाते न करें, किन्तु रागद्वेषके भारसे कुछ समय हटकर अपने वस्तुधर्मका स्वाद लेनेके नाते से, इन परिणामोंसे ज्ञानानन्दघन प्रभुके दर्शन भक्ति करते आयें।

पर पदार्थ लक्ष्यकी अविशुद्धिके साधन—भैया ! जो जैसे लक्ष्यसे कार्य करता है उसको वही फल मिल जाता है। मेरा क्या है दुनियामें ? मुझ ज्ञानमात्र आनन्दघन इस चैतन्यप्रभुका इस दुनियामें क्या है ? कौनसा सम्बन्ध है जो मेरी आत्माकी पवित्रता बढ़ादे ? कौन सी चीज है ऐसी दुनियामें जो मेरा कल्याण करदे। यह चैतन्य एक सत् है, निरन्तर परिणमता रहता है। यह केवल अपने आपका स्वामी है, अनादिसे है, उसका किसी परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा ध्यान करके सर्व विकल्पजालोंको तोड़ना और अपने केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूपका अनुभव करना यह अपना कर्तव्य है। इस दुनियामें जो लोग अपना बढ़ावा चाहते हैं, मेरे धन विशेष बढ़ जाय, मेरी समाजमें खास पैठ हो जाय, देशमें मेरा प्रमुख स्थान बन जाय यह सब अज्ञान और कषायकी प्रेरणावोंसे बुद्धि बनती है।

परकी आशा व्यर्थ— भैया ! किनमें तुम बड़ा बनना चाहते हो ? मोही जन अपने स्वार्थसे ही आपको बड़ा कहेंगे। आपके बड़प्पनके कारण अपको बड़ा न कहेंगे। उनके स्वार्थकी पूर्ति होती हो, उनकी कुछ विषय कषायकी बात सधती हो तो आपको बड़ा कहेंगे। जगतके जीवोंको ऐसी अटक नहीं है कि बिना प्रयोजनके आपको बड़ा मानते रहें। बिना प्रयोजन तो लोग भगवानको भी बड़ा नहीं मानते। तुम्हारी तो बात ही क्या है ? निर्वाणकी प्राप्तिके लिए रागद्वेषके संकटोंसे दूर होनेके लिए, शांतिलाभके लिए भगवानको बड़ा मानते हैं, उनकी पूजा उपासनामें रहते हैं। इन लौकिक पुरुषोंको कौन बड़ा मानने वाला है ? किसके लिए बन बढ़ानेका विकल्प कररहे हो ? उदार बनो ! धीर बनो, उदयके अनुसार जो आता है उसमें व्यवस्था बनाओ और सन्तोष करो।

भैया! सबके हाथ जोड़ लो, कि मुझे आप लोगोंसे यह सुननेकी इच्छा नहीं कि मैं बड़ा हूँ, न मैं इसकी आशा रखता हूँ, क्योंकि हे जगत् के प्राणि-जनो ! तुमसे मेरा कुछ कल्याण नहीं है, हित नहीं है, तुम्हारे वड़ा कह देने से यहाँ कुछ भी वड़प्पन नहीं हो जाता है। तुम अपने कपायसे अपनी चेष्टा करते हो। मेरा चाहनेवाला दुनियामें कोई नहीं है। जो चाहता है वह अपने विपय कषायोंसे अथवा स्वार्थसे चाहता है। मेरेको चाहने वाला दुनियामें कोई नहीं है। चाहनेकी तो बात क्या, मुझे कोई जान ही नहीं सकता। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि सब पदार्थ अपने अपने प्रदेशोंमें ही परिणमन करते हैं। परम उपेक्षाका भाव जगे, केवल जाननहार रहने की स्थिति बने, यह ही परम धर्म है। यथार्थ प्रयोजन और उद्देश्यको लेकर थोड़ा भी समय धर्ममें बितायें वह लाभ देगा। यथार्थ उद्देश्यको छोड़कर आप सर्व समय भी धर्मकी घुनमें विश्राम करनेमें लगावो तो उससे प्रकृतिनिर्जरा न होगी कर्मनिर्जराका सम्बन्ध ज्ञानभावसे है।

अन्तर्गमनके परिणाम— ये कर्म विचार-विचार कर नहीं वँधते। इन कर्मोका कुछ प्रयोजन नहीं है कि इस आत्मामें वँध जाऊँ और उदयमें आऊँ और दुःखी करूँ किन्तु ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिकयोग है कि जिसकी आत्मामें मिथ्यात्व और कपायका परिणमन हो कि बिना सूचनाके, बिना किसी तैयारीके, बिना किसी प्रोग्रामके ये कर्म स्वयं अपने आप कर्मरूप बँध जाते हैं। खुदपर वड़ा संकट छाया है द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मका। वाहर किसपर गुस्सा करते हो ? वाहर कौन तुम्हारा वैरी है ? सभी पदार्थ तुम्हारे स्वरूपसे निराले और न्यारे हैं। कोई सम्बंध नही है। तुम पर वहुत वड़ा संकट छाया है। कर्म वन्धनकी तो कुछ खबर ही नहीं करते और किसी दूसरे जोवको अपने सुखका वाधक मानकर उसपर क्रोध किया करते हो ? अपने आपपर कुछ ता दया करो।

ममता ही उपद्रवका मूल कारण—ये कर्म दमादम क्यों आत्मामें बसते चले आरहे हैं ? यह रागोंको परम्परा व मनका स्वच्छन्दता क्यों धड़ाधड़ तुमपर ऊधम मचारही है ? मरनेके वाद फिर शरीर फिर मरण, फिर शरीर फिर मरण, क्यों यह जन्ममरणकी परम्परा मेरे आपके जकड़ी हुई है ?कारण सबका एक है। अपने शुद्ध सहज ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें, पदार्थोमें ये कुछ मेरे हैं इतनी तरग हो जाना इन सब विपत्तियोंका और उपसर्गोका कारण बन गया है। धर्मकी क्रिया करते हुए वहाँ ही किसीको कुछ दिखानेका, कुछ अपनी वनावट करनेका यत्न तो बड़ी मूर्खताका काम

है। मेरा भला करेगा तो मेरी आत्मामें बसे हुए सहजस्वरूपका दर्शन भला करेगा। यह काम मेरेमें मुझे भीतर गुप्त रह कर छुपे हुए करना होगा।

कल्याणका स्थान—कल्याण मेरा गुप्त है। और उस कल्याणका उपाय भी मेरेमें गुप्त है। वह परम विकाश मेरेमें गुप्त है। गुप्त ही रहकर अपने आपके अन्तरमें और अधिक गुप्त रहकर पता न हो किसीको कोई है भी यहाँ क्या ? उपयोग किसीको न देख रहा हो, ऐसे गुप्त रहकर अपने आपमें अपने आपकी उन्नति की जाती है। धर्मका बनावट और दिखावटसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है, बल्कि अधर्मका सम्बन्ध है। आत्मानुष्ठानके अतिरिक्त अन्य क्या कोई मार्ग है अपने आपको सुखी और शांत करने का ? आत्मस्थितिके अतिरिक्त अन्य कोई शान्तिका मार्ग नहीं है।

गृहस्थीमें भी धर्माचरण अत्यावश्यक—गृहस्थ धर्ममें भी चिंता करने दुःखी होने, धन कमाने, अनेक बातें करनेके लिए तो रात दिन पड़े हुए है। उस समस्त रात दिनके समयमें १५ मिनट ही केवल अपनी करुणाके रख दिये जायें और इतनी हिम्मत करके उस १५ मिनटका उपयोग करें कि दूसरोंका, पर पदार्थोंका जो कुछ भी होता हो, हो! क्या होगा! उत्पाद व्यय ही तो होगा ? उन जीवोंका या जड़ पदार्थोंका उत्पादव्यय ही हो सकेगा। सत् तो वही रहेगा और रहे या न रहे, मेरे निकटसे कहीं अन्यत्र चला जावे। इस अनादि अनन्त संसारमें यह मैं अकेला ही तो हूँ। इस अकेलेके एकत्वस्वरूपको मैं निहारता रहूँ तो मैं प्रभुका प्यारा रहूँगा। किसी अन्यका प्रिय बननेमें लाभ नहीं है। केवल एक प्रभुके प्रिय बनो। धर्मात्माजनोंके प्रिय बनो, मोहीजनोंके प्रिय बननेमें लाभ नहीं है।

शुद्धरुचिकी विशेषताकी प्रकृतिपर दृष्टान्त—उछल-उछल कर मोहियोंमें घुसते हो और हिम्मत बनाकर धर्मके कामोंमें आते हो। हो जाना चाहिए इसका उल्टा अर्थात् उछल उछलकर धर्मके कामोंमें आवो और हिम्मत बनाकर एक बड़ा दिल करके मोहियोंके बीचमें रहो। जिस बच्चेको जबरदस्ती पढ़ाया जाय तो बच्चा पढ़नेके लिए अपनी हिम्मतको तैयार करता है पर खेलनेके लिए उछलकर भागता है। और कोई बच्चा समझदार हो, हमें १० वीं में, मिडिलमें उत्तीर्ण होना है, गरीब हूँ, मेरा कोई सहाय नहीं है और बुद्धिमानी हो तो वह पढ़नेके लिए उछलकर जाता है और पुराने दोस्तोंकी जबरदस्तीपर कि तुम खेलने नहीं चलते, हाथ पकड़कर खींचकर ले जानेपर तो खेलनेके लिए वह हिम्मत बनाता है तब खेल पाता है।

शुद्धरुचिकी विशेषताकी प्रकृति—इसी तरहकी वृत्ति ज्ञानी धर्मात्मा

पुरुषोंमें होती है। धर्म करनेके लिए तो उछलकर लगते हैं ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष और अन्य कामोंमें, धन कमानेमें, काम पुरुषार्थमें यह समझकर लगते हैं कि यह करना पड़ेगा, किन्तु अज्ञानीको लौकिक कार्य सुगम हैं और धर्मकार्यमें अरुचि है, जैसे कितने ही गृहस्थ ऐसे हैं जिनका लक्ष्य शुद्ध नहीं होता है और धर्मकार्यका शौक है तो वे सोचते हैं कि अब सुबह हुआ अब तो मंदिरमें जाना पड़ेगा शास्त्रमें जाना पड़ेगा। कई दबाव है ना, उसपर कि समाजमें हमारी बात रहे, कुछ पोजीशन रहे इस बातके कारण जाना पड़ेगा। और वह ड्यूटी समाप्त हुई कि पहिले दिल उछलता है, बस अब छुट्टी मिलने को है, अब घर जाना है।

गृहस्थकी धर्मरुचिका व्यावहारिक रूप—कभी कभी किसी गृहस्थके ऐसा भाव होता है कि इस दुकानमें हमें लगना पड़रहा है। अपनी आवश्यकताके योग्य बिक्री हो जाय कि झट मैं दूकान बंद करके मंदिरमें, या सत्संगमें या स्वाध्यायमें पहुँचूं। ऐसे भी गृहस्थ आजकल पाये जाते हैं। और मिलेगी ऐसी धारणा धर्मरुचिवाले जीवोंमें और फिर वे अपना ऐसा परिणाम कर लेते हैं कि इतना काम दुकानपर हो गया तो बस दुकान बंद कर दिया और अपना धर्म करनेमें लग गये। एक रुचिकी बात बतला रहे हैं कि एक को तो दिल बनाकरके धर्म करना पड़ता है और एकको दिल बनाकरके अन्य कार्य करने पड़ते हैं। ज्ञानी जन धर्मको उछल-उछलकर उत्साहसे किया करते हैं।

ज्ञानदेवका शरण—इस लोकमें मेरा सहाय कौन है? जिसे आप आवश्यक समझते हैं उस आवश्यकतामें आप कमी कर दीजिए दो तीन दिन बाद ही आराम मिलने लगेगा। सभी जीव अपना काम करते हैं, अपने लिए करते हैं, अपनेसे करते हैं, अपनेमें करते हैं। कोई किसी अन्यका कुछ करता नहीं है। फिर मेरा संसारमें क्या है कौन सुखदायी है? कोई कुछ लगता है मेरा? मेरा मात्र मैं ही रक्षक हूँ। अपने इस ज्ञान पौधेको सींचो, इस ज्ञानको हरा भरा किए रहो, दूकानमें हो, घरपर हो, मंदिरमें हो इस ज्ञानदेवकी सुध न भूलो। ज्ञानदेवकी ज्ञानात्मक उपासना ही शरण है। इस ज्ञानदेवके प्रतापसे ही सर्व आनन्द प्राप्त होता है।

ज्ञानकी स्वच्छतापर शान्तिको निर्भरता—भैया! दिमाग सही है, बुद्धि व्यवस्थित है, ज्ञानपर दृष्टि है तो आनन्द अपने पास है। दिमाग बिगड़ गया, बुद्धि बिगड़ गई ज्ञानदृष्टि न रही तो मेरेमें क्लेशोंका आना प्राकृतिक बात है। आनन्दका मिलना बाह्य वस्तुवोंके आधीन नहीं है किन्तु ज्ञानकी

स्वच्छताके आधीन है। गरीब हुए तो क्या बिगड़ा। यदि ज्ञान स्वच्छ है, व्यवस्थित है तो आनन्द मुझे अवश्य है। इतना ही तो है कि न मिठाइयाँ खाईं, सूखा भोजन खाया। अन्तर क्या आया? शरीर घट जायगा क्या? बल्कि भारी रसीला भोजन करनेसे शरीर घट जाता है, मंदाग्नि हो जाती है, बीमारी घेर लेती है। ज्ञानकी स्वच्छता ही वास्तविक आरोग्य है। बाह्य विषयोंके न मिलनेसे क्या नुकशान है? ज्ञान व्यवस्थित है तो वह सुखी है।

सर्वोत्कृष्ट वैभव आत्मधर्मकी सम्हाल—भैया! धन भी बहुत हो गया पर मेरे सहज ज्ञानकी दृष्टि मेरेमें प्रकट न हुई तो बाह्य पदार्थोंके बारेमें तर्कणायें चलती हैं। उन तर्कणावोंका फल केवल क्लेश ही है। जीव आनन्दमय है, परिपूर्ण है, सर्वस्व इसका सर्व समय उपस्थित है, रंच भी दुःख नहीं है मात्र अपनी प्रभुताका ध्यान न होनेसे यह जीव दुखी होरहा है। अपने आपके रत्नत्रयकी सम्हाल करना यही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। अन्य चेतन अचेतन पदार्थ तो इस आत्माके कुछ भी नहीं लगते हैं। ये साधुजन, संतजन अपने देहसे भी अत्यन्त विरक्त हैं। उनको यह लगरहा है कि यह देह परिग्रह भी मेरे लालनेके योग्य नहीं है। उपेक्ष्य ही है फिर अन्य परिग्रहोंकी तो बात ही क्या करें? सो केवल आत्माके एकत्व स्वभावका रुचिया साधु संत अपनी शक्ति साधनामें जुटा रहता है।

साधुजनोंका धर्म एक उत्सर्ग धर्म है, किन्तु उत्सर्ग धर्ममें टिके रहने की सामर्थ्य नहीं है तो कुछ अपवाद धर्म ऐसे हैं कि जिनसे साधु के संयमका छेद नहीं माना जाता है। वह अपवादविशेष कौन है, इसका उपदेश इस गाथामें किया जा रहा है—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणियं।
गुरुवयणंपि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं ॥२२५॥

जिनमार्गके पथिकके उपकरण—जिनमार्गमें निर्ग्रन्थलिङ्ग, गुरुका वचन, विनय और अध्ययन ये सब उपकरण बताये गये हैं। इनका उपयोग होना अपवादधर्म है। ज्ञानियोंकी रुचि तो देखो। अध्ययन करना, विनय करना, गुरुवचन सुनना, यथाजात लिङ्ग होना भी अपवाद कहा। लोकमें अपवादको बुरा माना जाता है। सीताजीका अपवाद हुआ तो भली बात है क्या? हल्की बातको अपवाद कहते हैं। अध्ययन करना, विनय करना, गुरुके वचन सुनना और शरीरका निर्ग्रन्थभेष बनाना यह सब अपवाद है। क्योंकि ज्ञानियोंको तो केवल एक ज्ञान सुधारसका स्वाद ही रुचरहा है। उसके लिए तो शरीर का नग्न रखना भी एक नाटक दीखरहा है। बोलना चालना, विनय करना,

अध्ययन करना ये सब उसे हल्की बातें दीखरही हैं। चाहता तो वह यह है कि उपयोगमें रहकर केवल ज्ञानरमका स्वाद लेता रहूँ।

अप्रतिषिद्ध उपाधि—भला बतलावो कि जिसको लोग बड़ा महत्त्व देते हैं ऐसा सत्संग हो, गुरुवचन हो, विनय हो, अध्ययन हो यह भी जहाँ अपवाद बताया गया है फिर तो जटा रखना, चीमटा रखना, इनकी तो कहानी कौन करे? यहां उस उपधिको अपवाद कहा गया है जो उपधि टाली न जा सके। स्थिति देखलो। कल्याणकी इच्छा है और प्रबल उपादान नहीं है कि ज्ञानधारामें ही रह सके तो गुरुवचन सुनना बड़ा आवश्यक हो जाता है और ये शिष्यजन भी इस बातमें अपनेको धन्य मानते हैं कि मुझ पर गुरु प्रसन्न हैं और मुझे ये शिक्षा देते हैं। इतने महत्त्व वाली चीज भी अपवादधर्म है। सो वही अपवाद साधुजन ग्रहण करते हैं कि जिसके बिना आत्माका काम चल ही नहीं सकता है। तो जो अप्रतिषिद्ध उपाधि है। वह अपवाद है। वह साराका सारा अपवाद श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारण है, इस लिए उपकारक है और वह उपकरण माना जाता है, किन्तु अन्य कुछ उपकरण नहीं माना जा सकता है।

आत्मसिद्धिकी अप्रयोजक उपाधि—भैया! केवल निर्ग्रन्थ भेष, गुरुके वचन, विनय, व्यवहार, ज्ञानार्जन और शास्त्र, पिछी, कमण्डल ये उपकरण हैं। अन्य चीजें उपकरण नहीं हो सकती। आज जैन शासनमें भी कई पंथ हो गये हैं। मूलमें एक बात थी। वह क्या? उत्कृष्ट यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय। भैया, श्वेताम्बर भाइयोंके शास्त्रोंका भी अध्ययन करो, उसमें यह मिलेगा कि तीर्थंकर सब नग्न होकर तप करते थे। और उनके यहां भी दो सिद्धान्त माने जाते हैं। एक जिनकल्पी और एक स्थविरकल्पी। जिनकल्पीका यह अर्थ करते हैं कि वे नग्न दिगम्बर होकर तपस्या करते थे और स्थविरकल्पीका अर्थ यह करते हैं कि एक वस्त्र रखना। अनेक वस्त्र रखनेकी उनके मूल ग्रन्थोंमें इजाजत नहीं है।

अल्प भी शिथिलताका दुष्परिणाम—फिर यह अनाप-सनाप प्रवर्तन क्यों हो गया? उत्तर-अपने यहां जैसे कोई भाषाग्रन्थ बन जाता है और कोई बात लिख दी जाती है जिससे बड़ा सुगम और दिलचस्प काम बन जाय इसी तरह धीरे-धीरे ऐसे उपकरणोंके नाम लिख डाले। इसका फल यह हुआ कि अपने देहपर चद्दर, फिर रेशमी कपड़ा, कितने ही कपड़े इतने लाद लेते हैं जितने कि एक गृहस्थ भी न लादे। तो उपकरण तो वह होता है कि जिसके बिना आत्माका काम न चल सके। कपड़ा तो ऐसी चीज है कि किसीको

एक बनियान से भी जाड़ा नहीं लगता है और किसीको रजाईमें भी जाड़ा लगता है। भैया ! जाड़ेका सम्बन्ध तो मनकी स्वच्छन्दतासे भी है। कोट भी पहिने हुए हों तो भी जाड़ा महसूस करते। जितना अधिक संग बढ़ गया है, परिग्रह बढ़ गया है उतना ही यह आत्माके कार्योंसे अलग हो गया है। जो श्रामण्य पर्यायमें सहकारी कारण बने वह तो उपकरण ग्राह्य है, और दूसरा कोई ग्राह्य उपकरण नहीं है।

निर्ग्रन्थ देहके भी उपाधिपना—वे कौन-कौन से अपवाद हैं ? सो बतलाते हैं कि पहिले तो यह शरीर पुद्गल है, इसे कहाँ छोड़ दें ? यह त्यागा तो जा नहीं सकता है सो यह उपाधि हो गई। कैसा है उनका शरीर ? पुद्गलके सभी प्रकारके अलंकार, शृंगार, स्नान आदिसे रहित है। शरीरकी ममता साधुवोंके नहीं, है इसलिए शरीर कैसी भी स्थितिमें रहे, फिर भी यह भावना नहीं होती है कि स्नान तो करलें, गर्म पानीसे इस मैलको उतारदें। लगन ऐसी लगती है ज्ञानसाधनामें, कि मात्र उन्हें ज्ञानसाधना ही रुच रही है। सो सहज रूप बन गया है, नग्न दिगम्बर भेष बन गया है, फिरभी उसकी उपेक्षा है। शरीरकी इतनी उपेक्षा की कि न शृंगार रहा न रंच मात्र भ[ी] दूसरी वस्तुका सम्बन्ध रहा। इतना होनेपर अगत्या जो केवल शरीरमा[त्र] रह गया उसे कहते हैं दिगम्बर मुद्रा। उसकी भी उन्हें उपेक्षा है। य[दि] किसी घरके बड़े कामके कारण थोड़ोसी सिरपर चोट लग जाय, काठ ल[ग] जाय अथवा हाथ किवाड़से घिस जाय तो उसका कुछ पता नहीं रहता, क्योंकि धुन तो रहती है माने हुए बड़े कामकी। सो आपको भी जब अप[ने] शरीर तकका भी पता नहीं रहता है, तब साधुवोंको तो एक ज्ञानस्वभावक[ी] साधनाकी ही धुन है इसलिये उस धुनमें साधुवोंको कदाचित् यह पता नह[ीं] रहता कि मेरे साथ शरीर भी लगा है। पर लगा जरूर है, अप्रतिषिद्ध है[,] हटाया नहीं जा सकता है। ऐसा शरीर पुद्गल रहना और उसका शृंगारों[से] रहित रहना आदि यह उनका अपवादविशेषरूप धर्म है। यहाँ अपवादक[ा] अर्थ मुकाबिलेतन है कि ज्ञानस्वभावकी सिद्धिके कामके सामनेमें सब छोट[ी] बातें हैं। उन साधुवोंकी भावना और प्रतीति है कि धर्म आत्मामें होता है[,] आत्माके द्वारा होता है, शरीरसे धर्म नहीं होता है, शरीरमें नहीं होता है[,] पर यह (देह) दुष्ट आरम्भसे साथ लगा हुआ है तो उसकी वेदनासे विचलि[त] न होकर हमरे सावधानी बनी रहे इस कारण उस शरीरकी बात भी रखन[ी] पड़ती है। इसलिए यह अपवादविशेष रूप धर्म है।

उपदेशकी उपाधि—अब दूसरा अपवाद सुनिए। ये शब्दात्मक ज[...]

सूत्र हैं, ग्रन्थ है. इन्हें पढ़ते पढ़ाते हैं, ये भी अपवाद विशेष हैं। ये जब शब्द सुने जाते हैं तो तत्काल ये उपदेश भी सब दे डालते हैं। ये गुरुवोंके द्वारा उच्चारे गये शब्द हैं, आत्मतत्त्वका प्रकाश देनेवाले शब्द हैं। और सिद्ध उपदेश हैं। कोई नई बात नहीं खोजकर कहरहे हैं। खोजे खोजाए पूर्ण निर्णीत शब्द बोले जारहे हैं। ऐसे ये शब्दरूप पुद्गल भी अपवादविशेष हैं और इस प्रकार अध्ययनमें आने वाले शब्द जो सदा एक अर्थको बताते हैं और अनादि अनन्त शुद्ध आत्माके प्रकाश करनेमें समर्थ हैं ऐसे श्रुत ज्ञानके साधनरूप जो ये आगमके शब्द हैं, लिखित शब्द हैं, शुद्ध शब्द हैं ये भी अपवाद विशेष हैं। करना क्या है ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको समझ कर ? बस, जाननमात्र रहना है। रह नहीं पारहे हैं, पर ऐसा रहनेकी जिसे भावना है उसकी जो प्रवृत्ति बनेगी, वह ऊँची प्रवृत्ति बनेगी। लौकिक मोही जनोंकी तरह अटसट प्रवृत्ति नहीं बनेगी।

गुप्ति समिति और तपके विकल्पोंके भी उपाधिपना—महाव्रती होना समितिधारण करना गुप्तिका आचरण करना, अध्ययन करना, आदि सब ऊँची प्रवृत्तियाँ हैं, मगर साधुको तो ये भी आपदाएँ लगती हैं, हल्की बातें लगरही हैं। मूल उद्देश्यमें नहीं चलने पारहे हैं इसलिए ये समिति अध्ययन आचरण करने पड़रहे हैं। क्या करना है साधुको? इसका उत्तर यह नहीं कि तप करना है, चर्याको जाना है, और समितिपूर्वक काम करना है आदि। उसका ठीक उत्तर होगा कि निर्विकल्प होना है। ये सब विकल्प हैं और विकल्प होनेके कारण ये अपवादविशेष हैं।

विनयरूप उपाधि—और भी देखो विनयके अभिप्रायमें प्रवर्तानेवाली जो बुद्धि है वह अपवादविशेष है। विनय भी किनका? जो शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकट करनेवाली दर्शनादि पर्यायें हैं, व रत्नत्रयकी जिनकी वृत्ति है उन पुरुषोंकी विनय करना इस अभिप्रायको बनानेवाला जो मनका कार्य है वह भी एक अपवाद विशेष है। यह बहुत सर्वोत्कृष्ट साधनाकी बात कही जारही है। विनय तप आत्मसाधनामें परम सहायक है। विनय नामक गुण प्रेक्टिकल इतना सहायक है कि उसकी महिमा बताई नहीं जा सकती है। पहिले पाँच-पाँचसौ हजार-हजार मुनियोंका संघ था और उस संघमें कोई कलह नहीं होता था, विवाद नहीं होता था। सारे काम बड़ी विनय, सभ्यता और सद्व्यवहारसे चलते थे। आलोचना, प्रतिक्रिया दीक्षा आदि सब चलते थे। यह सब विनयका ही काम था। विनय बिना प्रगति नहीं होती। किन्तु ज्ञाता रहनेके मुकाबिले यह विनयवृत्ति अपवाद है।

विनयकी उत्कृष्टता व उपयोगिता—विनयका व्यवहार बड़ी ऊँची साधना है। अपने मानको चूर करे तो क्या कम साधनाकी बात है। और, एक तो तुच्छ जीवोंके सामने मानका परिणमन बने और एक महापुरुषोंके सामने मानका परिणाम बने, इसमें कितता अन्तर है ? छोटे आदमियोंके सामने कुछ मान कषाय बन जाना यह साधारण मान है पर रत्नत्रयधारी पुरुषोंके सामने मान कषाय बने यह तीव्र मान है। कोई मान रखता हो तो क्या मोक्ष या धर्मके मार्गमें लग सकता है ? नहीं ! अब दशलक्षणी आयेगी, बढ़िया द्रव्य सजायेंगे बड़े लोग भी पूजा करेंगे। उस प्रसंगमें कोई प्रकारकी बात ऐसी मानसम्बन्धी आजाये तो क्या धर्म लग जायगा। मानको चूर करें तब धर्मका प्रवेश होगा। वहाँ तो जीवोंमें ऐसा घुलमिल जावें कि अपने आपको अपनी सत्ता भी प्रतीत न रहे ऐसे मानरहित और परमार्थ विनयसे प्रवर्ते तो वहाँ धर्म हो, आनन्द मिले।

परमार्थ विनयका विकल्प अपवाद—जैसा सबका स्वरूप है वैसा मेरा इस द्रव्यका स्वरूप है। इस मुझ आत्मद्रव्यमें एक भी विपदा नहीं, विषय कषायके परिणाम इस मुझ आत्मद्रव्यमें नहीं है। यह बिभाव अन्य उपाधिके संगका परिणाम है। जो तरंग उठ आती है प्रवृत्ति बन जाती है, विपय कषायके भाव बन जाते हैं, ये भाव मेरे नहीं हैं। मैं तो अपने शुद्ध ज्ञानप्रभुकी ओर हूँ। विभाव वृत्तियोंका राग छोड़ देना उनको हटा देना और अपने शुद्ध ज्ञायक प्रभुकी ओर नम जाना, झुक जाना, अपने आपके सर्वस्वको चैतन्य प्रभुको सौंप देना यह परमार्थ विनय है। ऐसा करते हुए भी जब उन्हें ख्याल होता है कि मैं यह कहरहा हूँ तो वह ख्याल, वह कल्पना, वह अभिप्राय अपवाद विशेष है।

साधुकी वास्तविक साधुता—ऐसी साधनामें जो साधु लगा हो उसका मर्म जान लिया गया हो तो उस साधुमें अरहंतसे कम भक्ति नहीं प्रकट होगी, क्या फर्क है अरहंत और साधुमें ? ऐसी दृष्टि जगे कि काम वही होरहा है, अरहंतने एक कदम लम्बा खीच लिया जिससे वे पार हो गये हैं। और इन साधु महाराजोंके भी अन्तरङ्गमें ऐसा प्रवेश होरहा है। ऐसी साधना चल रही है कि ज्ञानाराधनाके अतिरिक्त उनको कुछ सूझता ही नहीं है। साधु परमेष्ठी एक परमपद है, पूज्य है। केवल भेष मात्रसे साधु नहीं कहलाता। आत्मतत्त्वकी साधना चलरही हो तो साधु कहलाता है। ऐसे साधु भी साधनासाधक विनयादिवृत्तिमें हो तो वह भी अपवादविशेष है। उत्सर्ग मार्ग तो केवल ज्ञानवृत्तिद्वारा ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वकी आराधनामें रहना है

यह उत्सर्ग वस्तुधर्म है। मन, वचन, कायकी चेष्टा वस्तुधर्म नहीं है।

ज्ञानी संत शरीरसे अछूता—भैया! अब कुछ अन्दाज करलो कि जो ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्वकी ही मात्र आराधनामें रहता है तो इन सबसे यह ज्ञानमय आत्मा कैसा अछूता अलिप्त प्रतीत होता है और इसकी प्रबल साधना होनेपर तो ऐसा मालूम होता है जैसा सामने खड़े हुए ये दो खम्भे कि यह अलग है, यह अलग है। यह मैं आत्मा परिपूर्ण इससे अलग हूँ और यह शरीर अलग है और अयोगकेवली गुणस्थानमें तो शरीरसे आत्मा इस तरहसे अलग है जैसे छोटी शीशीमें पारेका बूंद। वह शीशीको नहीं छूता है, अलग पड़ा है। आहारवर्गणायें वहाँ ग्रहणमें नहीं आती। यह आत्मा उस प्रदेशबन्धसे भी मुक्त हो गया है, शरीरमें रहता हुआ भी आधे सेकण्डमें मोक्ष चला जाता है, शरीरसे पूराका पूरा अछूता जो इसी प्रकारसे योंही निकलकर चला जाता है, उसका प्रदेश-बन्धन नही हो सकता। ज्ञान बलके द्वारा तो हमारी आपकी इस बँधी हुई स्थितिमें भी हम आपका यह ज्ञानमय आत्मा शरीरसे न्यारा विदित हो जाता है।

ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे आत्मपुष्टि—जैसे पौधेकी जड़में पानी सींचो तो पौधा बढ़ेगा, हरा होगा—और अगर पौधेकी जड़में जल एक बूंद भी न दें और पत्तोंको ही तर बनाये रहें, सूख जायें तो फिर पत्तोंमें ही जल छिड़कदो तो क्या पौधा पुष्ट रह सकेगा? नहीं! पानीमें भी उस पौधेके पत्ते पड़े रहें तो भी पौधा सूख जायगा। आत्माका मूल है यह ज्ञानस्वभाव। इस ज्ञान स्वभावकी आत्मीयताका उपयोग करना, यह है अपनी आत्माका सींचना। यों तो कोई आत्माको सींचे नहीं और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंको धार्मिक रूप बनाते रहें तो उनसे यह आत्मा पुष्ट न होगा। जैसे पत्तियोंको पानीसे तर भी बनाये रहें, पर पौधेके मूलमें पानी न डाला तो पौधा नष्ट हो जायगा, पुष्ट न रह सकेगा। इसी तरह अपने आपके ज्ञानस्वभावको, ज्ञान आराधनाके जलसे सिंचन न करो, शरीरसे, वचनसे और मनसे धर्मके काम करते रहो तो तुम सूखे ही रहोगे, पुष्ट न रह सकोगे, मोक्षमार्ग न मिलेगा, कर्मोंका सम्वर निर्जरण न होगा।

ज्ञानी संतकी वृत्ति—ज्ञानी संत चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे वह साधु हो, मार्गकी जानकारी तो सबकी एक किस्मकी है। अन्तर केवल चल सकनेका है, साधु तीव्र वेगसे उस पथपर चलने लगता है, श्रावक धीरे-धीरे चलते हैं, इस ज्ञानस्वभावी आत्माको जितने क्षण अपने उपयोगमें विराजमान रखें उतने क्षण इसमें विकल्परूप विपत्तियोंका प्रवेश नहीं होता है। और ज्ञान

विकाशरूप धर्म, आनन्दविकाशरूप धर्म इसमें सहज प्रकट होता है। ऐसी ऊँची साधनामें लगे हुए साधुजनोंको भी अपनी पूर्व गल्तियोके कारण जो शरीर लगा हुआ है इस शरीरके प्रति उत्सर्गसापेक्ष व्यवहार होता है, यह साधुजनोंका अपवादरूप धर्म है।

अपवादकी अपेक्षाकृतता—मन वचन कायकी भली चेष्टा, गुरुवोंकी विनय करना, वचनोंसे दूसरोंको आत्मतत्त्वकी बात बताना, दूसरोसे आत्म-तत्त्वकी बात सुनना, इस शरीरको शृङ्गाररहित, आभूषणरहित, स्नान रहित शरीर मात्र बनाए रहना यह बात अच्छी है या बुरी ? अच्छी है ! किन्तु केवल ज्ञानका ही रस जो चखना चाहते हैं उन्हें यह बात कुछ हल्की श्रेणीकी मालूम होती है। यह भी तो विकल्प है। वे साधु इतना भी विकल्प पसन्द नहीं करते हैं।

निर्विकल्पताका पुरुषार्थ—भैया ! एक सुभट राजा निर्ग्रन्थ साधु होकर तपस्यामें लीन है। उस पर कोई शेर आकर अक्रमण करता है तो उस सुभट साधुमें इतनी शक्ति है कि ऐसे कई शेरोंको अपने भुजाओंकी ताड़नासे मार सकता है। पर एक चींटी भी काटे, विच्छू भी काटे, छोटा स्याल जिसमें कुछ दम नहीं है, हू' कह दो तो डर जाय फिर भी साधु उसको हटाने तकका भी विकल्प नहीं करते, ऐसी स्थितिमें साधुसे पूछो, महाराज यह वेवकूफी क्यों कर रहे हो, जरा सा हाथ हिलादो, ये स्याल आदि भाग जायेंगे फिर तुम अच्छी तरहसे धर्म करना। साधु महाराजका उत्तर क्या होगा कि मुझे तो इन विकट क्षणोंमें भी कुछ विकल्प करनेकी भावना नही है। मैं इन विकल्पोंको भी विपदा मानता हूँ, इसलिए इन तुच्छ कीड़ों मकोड़ोंको हटानेके लिए भी विकल्प नहीं करता हूँ।

निर्विकल्पता और विकल्पका परिणाम—निर्विकल्प स्थितिमें रहकर यदि मरण भी हो जाय तो वह धर्म है, मोक्षमार्ग है सदाके लिए संकटोंसे दूर होनेका उपाय है। किन्तु कुछ भी विकल्प करके अपने जन्म-मरणकी परम्पराको वना लेना महा संकटोके वना लेनेका डौलडाल है। यह साधुको मंजूर नहीं है। यदि आराम ही चाहते तो घरमें क्या कमी थी ? राजपाट था, सब सहूलियत थी, साधुको रंचमात्र भी विकल्प पसन्द नहीं, सो मन, वचन, कायकी ऐसी योग्य प्रवृत्तियाँ भी उन्हें अपवाद लगती हैं। इस प्रकार अपवाद विशेषका संक्षेपमें वर्णन करके अब इस बातका वर्णन करेंगे कि जो शरीर छोड़ा नहीं जा सकता है उस शरीर मात्र उपाधिके पालनेकी विधि क्या है किस प्रकार है ? कैसे इस शरीरको रखना है ?

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

साधुकी लोकनिरपेक्षता—यह २२६ वीं गाथा है श्रमण कैसा हो इसका वर्णन इस गाथामें है। पहिली बात तो यह है कि साधु इस लोकसे निरपेक्ष है। इस लोकसे निरपेक्ष होनेका कारण यह है कि इन साधुओंकी अनादि अनन्त एकस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वमें वृत्ति होती है। जिनकी लगन अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगी हो वे इस लोककी क्या अपेक्षा करेंगे ? जो पर्याय-बुद्धि जीव हैं वे ही इस लोककी अपेक्षा रखा करते हैं।

साधुकी निष्कषायता—दूसरी बात साधुमें पायी जाती है कषायरहितपना, जितने भी पुद्गल हैं व उनका जितना भी फल है सबसे अत्यन्त जुदा आत्मा का स्वभाव है, वह उनकी दृष्टिमें बना रहता है, इस कारण ये साधु कषाय-रहित हैं। सर्व कषाय पुद्गल कर्मका फल है। कषाय मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। ऐसी उनकी प्रतीतिमें दृढ़ता है इस कारण कषायोंका वे आदर नहीं करते हैं। जिनका उद्देश्य यह बन गया कि मुझे तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना है, मेरा स्वभाव तो ज्ञानमात्र है केवल ज्ञानमात्र की वृत्ति जो चाह रहे है वे कषायोंमें नहीं पड़ सकते। जैसे कोई वणिक पैसेके लोभकी धुनमें रहता है, उसकी धुनि केवल पैसोंकी है ना ? सो उस प्रयोजनमें यदि किसीकी चार बातें भी सुननी पड़ें तो सुन लेता है। उसके कोई क्रोध मान कषाय नहीं जगता है। इस ही प्रकार जिस ज्ञानी संतको अपने ज्ञानस्वभावकी वृत्तिमें ही रुचि जगी है और ज्ञानस्वभावसे ही रहनेका जिनका प्रोग्रेम है वे किसी भी प्रकारकी कषाय नहीं करते हैं।

साधुका आत्मद्रव्यरूपमें अनुभव—ये साधुजन वर्तमानमें यद्यपि मनुष्य पर्यायरूप हैं तथापि मनुष्योंके व्यवहारसे वे बहिर्भूत है। इस कारण वे इस लोककी कोई अपेक्षा नहीं रखते है। आज प्रभु श्रीपार्श्वनाथका मोक्षकल्याणक दिवस है हम उनकी आराधनामें आज भक्ति करने आये है। मूलमें उनकी उत्कृष्ट कला वह क्या थी जिसके प्रताप से वे परमाराध्य हुए। वह मूल कला थी इहलोकनिरपेक्षता। पार्श्व प्रभु मनुष्य थे, किन्तु उन्होने अपने आपको मनुष्यरूपमें अनुभव न करके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें अनुभव किया था। इस कलाके प्रसादसे प्रभु निर्दोष, सर्वज्ञ व अनन्तानन्दमय हुए। जगत में अनेक जीव हो गये है पर हम उपासना उनकी करते है जिनसे हमें वास्तविक आनन्द और कल्याणका मार्ग दिखता है। यों तो जीव अनन्ते गुजर चुके हैं, कोई भी मनुष्य मरे हुए धनीकी याद नहीं करता है। जिनकी

भी याद की जाती है, उनकी गुणीपनके नातेसे याद की जाती है। प्रभुने गुणविकासी हो कर निर्वाण प्राप्त किया है उस गुणके नातेसे आज सबने इस रूपमें प्रभुकी याद की है।

पार्श्व प्रभुके जीवनकी पावनता—भैया! भगवान पार्श्वनाथका कई भवों से बड़ा उज्ज्वल चरित्र रहा है। प्रथम तो कमठ और मरुभूतिकी ही बात देखो, मरुभूति कितना मंदकषायी पुरुष था। कमठने कितना ही उपसर्ग भी किया व अन्याय भी किया जिस अन्यायके कारण राजाने उसे देशसे निकाल दिया, तिस पर भी अपने बड़े भाईसे मरुभूति क्षमा मागता है, किन्तु कमठ पत्थरकी शिला सिर पर रखे साधुके भेषमें तपस्या कररहा था सो मरुभूतिको सामने देख क्रोधमें आकर उसने मरुभूतिके ऊपर वह एक मनकी शिला पटक दी उस शिलाके पटक देनेसे मरुभूतिके प्राण उसी स्थान पर खतम हो जाते हैं। इसके बाद अन्य भवोंमें भी मरुभूति तो हुआ शान्त जीव और कमठ हुआ क्रुद्ध जीव। देखो, कमठने मरुभूतिसे जो र किया वैथा उसको भव-भवमें निभाया, यहाँ तक कि तीर्थङ्करों पर उपसर्ग नहीं हुआ करता है भैया, किन्तु कलिकालका यह दोष था इस कमठने ज्योतिषी बन कर पार्श्वनाथपर बड़े बड़े उपद्रव किये, बड़े बड़े बिकराल प्रेत बन कर सताया। इतने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ अपने चिंतनमें दृढ़ रहे।

अपने भविष्यकी अपने आपके परिणामोंपर निर्भरता—कर्मक्लेशोंका विनाश अपने परिणामोंकी निर्मलतापर निर्भर है। जहाँ आत्मपरिणाम निस्तरंग नीरंग नहीं रह सकते, परकी ओर आकर्षित रहते हैं, उन परिणामोंका निमित्त पाकर ये कर्म स्वयमेव बनजाते हैं और जब परिणाम सूखे बना लिए जाते हैं अर्थात् रागद्वेषोंसे रहित बना लिए जाते हैं तो चिकनाई न रहनेके कारण, स्नेह न रहनेके कारण यह कर्मधूल स्वयमेव खिर जाया करती है। यह मनुष्य जीवन पाया। कितना दुर्लभ है? इसको सब जानते ही हैं। ऐसे दुर्लभ जीवनको पाकर हमें अपने लिए क्या करना चाहिए इस का विचार अधिक रखना होगा। कुटुम्ब, परिवार, धन दौलत इनके लिए हम जितना चिन्तन करते हैं कई गुणा उससे अधिक चिंतन हमें अपने आपके लक्ष्य में करना होगा।

अगली गतिका अनुमान—भैया! रागद्वेष मोहोंमें रहकर अपनी रक्षा नहीं हो सकती है। आज पुण्योदय यहाँ है मोह रागद्वेषमें चले गये, कभी मरण तो होगा ही। ऐसा मोही जीवन बितानेसे पुरुष किस गतिको पायेगा? सो तत्त्वार्थसूत्रमें साफ लिखा है कि यदि बहुत आरम्भ परिग्रह रहेगा तो नर्क

में जाना होगा । यदि मायाचारकी विशेषता होगी, धोखा देनेके लिए कपट करेंगे झूठी गवाही देंगे तो तिर्यंच होंगे । और तपके परिणाम, दयाके परिणाम, दानके परिणाम, उदारताके परिणाम होंगे, दूसरे जीवोंपर दया करनेका परिणाम होगा तो देवगतिमें जन्म होगा । और समता होगी, अल्प आरम्भ होगा, अल्प परिग्रह होगा, संतोषका जीवन होगा तो मनुष्यगतिमें फिरसे जन्म मिल सकता है ।

अपने परिणामकी परख—अब अपने अपने जीवनको कसें कि हमारा जीवन किस गतिकी ओर ले जा सकने वाला है, परीक्षा करें । यदि धन घरमें अधिक है तो इससे नर्क नहीं मिलता किन्तु परिग्रहके विषयोंमें मूर्छा आसक्ति आरम्भ अधिक है तो उससे नर्क मिलता है । शानसे अपना जीवन बितानेके लिए लोगोंमें बड़ा कहलानेके लिये व्यर्थके कई प्रकारके आरम्भ सोचे जा रहे हैं, इतना काम यह भी करलो, यह काम भी करलो, स्वार्थलाभकी ही बातें जब सोची जारही हैं, तब तो उस व्यक्त कार्य का फल वह गति है । किन्तु परिग्रह होते हुए भी यह जानकारी जागृत रहे कि ये सर्व पर द्रव्य है, उसमें मेरा कुछ नहीं है, ये छूट जानेवाली चीजें हैं । ऐसा जानकर एक मूर्छाका परिणाम न रहे तो नर्क आयुका बंध नहीं होता है । बड़े बड़े चक्रवर्तियोंको देखो, राज्य विभूतिमें रहकर भी परिग्रहमें आसक्त नहीं हुए और यही कारण है कि दीक्षा लेनेके थोड़े थोड़े समय बाद ही उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया । जिनकी दृष्टि गृहस्थावस्थामें भी निर्ममताकी ओर ढली है ऐसे महापुरुषोंने दीक्षा साधनाके बाद शीघ्र अरहंत अवस्था पायी ।

प्रभु पार्श्वदेवकी महिमा—प्रभु पार्श्वनाथकी आयु ढाईसौ वर्षकी थी और कुमारकालमें ही ये विरक्त हो गये थे । आज लोगोंमें पार्श्वनाथ स्वामीका नाम बहुत प्रसिद्ध है । अजैन बन्धुवोंमें संभव है महावीर स्वामीसे भी अधिक पार्श्वनाथ स्वामीका नाम लेनेवाले होंगे । पार्श्वनाथ भगवान कुमारावस्थामें ही विरक्त हो गये थे । कमठके किए हुए उपसर्गोंमें भी इनके समता परिणाम था । धरणेन्द्र पद्मावतीने प्रभुके उपसर्गका निवारण किया । धरणेन्द्र पद्मावती भगवानके सेवक थे । आजकी प्रथामें देवी देवताओंको लोग भगवानके रूपमें पूजने लगे पर यह जानो कि ये देवी देवता मनुष्य गतिसे भी कुछ न्यून दर्जेके जीव हैं । और उनमें भी भवनवासी व्यन्तर व ज्योतिषी ये और न्यून जीव माने गये हैं । धरणेन्द्र पद्मावतीकी महिमा क्यों ऐसी बढ़ी ? यों कि वे पार्श्वनाथके सेवक थे ।

प्रभुसेवाका फल—एकीभाव स्तोत्रमें भी वादिराज मुनीश्वरने कहा है

कि हे प्रभो ! आपकी इन्द्रने सेवा की इसलिए आप बड़े कहलाये हैं यह बात नहीं है आप इसलिए बड़े कहलाए कि इन्द्र आपकी सेवा करके इस भवरोग का नाश करता है, एक भव बादमें ही हे भगवान वह निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। जो प्रभुकी सेवा करता है वह बड़ा हो ही जाता है। तो हम आराधना करें तो ज्ञानघन प्रभुकी ही करें। देखो सम्यक्त्व एक ऐसी निधि है कि जिसके होनेपर इस जीवको कहीं भी भय और शंका नहीं रहती है।

सुखका आधार ज्ञान—कहाँ शंका कररहे ? हम आपको कष्ट है कहाँ ? कल्पनाएं कररहे हैं और मानरहे हैं कि ये सेठ साहब बड़े सुखी हैं, ये लालाजी बड़े सुखी हैं, हम दुखी हैं, एक दूसरेको सुखी समझरहे हैं। पर चाहे बड़ा हो, गरीब हो, सबकी दशा एकसी ही होरही है। कारण यह है कि धन होनेके कारण सुख नहीं हुआ करता है किन्तु बुद्धि निर्मल होनेके कारण सुख हुआ करता है। जिनकी बुद्धि निर्मल है उनके सुख है, चाहे गरीब हो, चाहे अमीर हों। सुखका सम्बन्ध वैभवसे नहीं है, सुखका सम्बन्ध ज्ञानसे है। ज्ञान यदि शुद्ध होगा तो आनन्द मिलेगा और ज्ञान यदि मलिन होगा तो आनन्द न मिलेगा। ज्ञानकी मलिनता क्या है ? मिथ्यात्व। पर वस्तुवोंको अपना मानना ही मिथ्यात्व है।

अजब धर्मशाला—घर है, ठीक है। जबतक आयु है तबतक आप घरमें रहते हैं पर यह घर आपका नहीं है। एक साधु सड़कसे निकलरहा था। उसके किनारे एक बहुत बड़ी हवेली थी। हवेलीके पास एक पहरेदार खड़ा था। साधु पहरेदारसे पूछता है कि भाई यह धर्मशाला किसकी है। तो वह बोला महाराज धर्मशाला आगे है यह धर्मशाला नहीं है पहरेदारने सोचा कि यहाँ ठहरना चाहते होंगे। फिर साधुने कहा कि मुझे ठहरनेकी जरूरत नहीं है केवल पूछता हूँ, कि यह किसकी धर्मशाला है ? तो वह सिपाही बोला महाराज यह धर्मशाला नहीं है, यह तो फलां सेठजीकी हवेली है। सेठजीने महाराजको भीतर आदरसे बुलाया बैठाया और बोला महाराज क्या ठहरेंगे ? आप बिना किसी चिंताके ठहर जावें; आपके लिए सब जगह खाली है। जहाँ ठहरना चाहो ठहर जावो। साधुने कहा मुझे ठहरना नहीं है। सेठने कहा कि फिर आप क्यों पूँछरहे थे। साधुने कहा हम यह पूछ रहे थे कि यह धर्मशाला किसकी है ? सेठ बोला महाराज यह धर्मशाला नहीं है, यह आपकी हवेली है।"अच्छा यह किसने बनवाई है?।"हमारे बाबाने बनवाई थी। 'बाबा हवेली बननेके बाद कितने दिन रहे थे ? "महाराज बाबाजी हवेली बनवा भी न पाये थे कि बीचमें ही गुजर गये थे। "फिर पूरा किसने किया? "पिताजीने।

थे बन जानेके बाद कितने दिन इसमें रहे थे? "महाराज ! हवेली बननेके दो ही वर्ष बाद वे गुजर गये थे। "आप इसमें कितने दिन रहेंगे ? अब सेठ सरमा गया और सत्य बात समझ गया। साधुके चरणोंमें वह गिर गया बोला महाराज हम भूलमें थे। सच बात यही है कि यह धर्मशाला है। किसी धर्मशालामें मियादसे अधिक ठहरना हो तो सभापतिसे इजाजत लेकर १५-२० दिनके लिए और ठहर सकते हैं, मगर इस घरसे तो तुरन्त ही जाना पड़ेगा जब भी आयुकी मियाद पूरी होगी।

अपना ध्यान आवश्यक—भैया, यदि विषय न रहें तो समझो जीवन सफल है नहीं, तो कितनी ही तरहकी योनियां है ? किस-किस योनिमें जन्म लेना पड़ेगा ? क्या हालत होगी ? कुछ तो विचारो। सर्व बाह्यकी दृष्टि छोड़कर केवल अपने सत् का तो ध्यान करिये। अपना ध्यान यही है कि यथार्थ ज्ञान करलें। यह लोकव्यवस्था है अपने घरको सम्हालो, और अपने परिवारकी रक्षा करो। यह लोकव्यवस्था है, किन्तु अन्तरङ्गमें परमाणुमात्रको भी अपना न मानो। ये है नहीं तुम्हरे, इसलिए कहा जारहा है। यदि ये तुम्हारे होते तो आचार्योंको कहनेकी कोई आवश्यकता न थी।

जीवमें प्रथम मलीनता—बुद्धिको निर्मल बनानेके लिए पहिला काम तो यह है कि मिथ्यात्वका त्याग करो निजको निज परको पर जान। कैसा भी आपका पुत्र हो पर यह बुद्धि व्यवस्थित रखो कि ये पर जीव हैं, ये अपना कर्म लिए हुए हैं, किसी गतिसे आये हैं, किसी गतिको जायेंगे, ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसी अपनी श्रद्धा बनाये रहें तो दुःख न होगा ? जो मोह करेगा ममता रखेगा उसे ही क्लेश होंगे। कुछ मुखसे न बोलो कि तुम मेरे कुछ नहीं हो, मुझसे भिन्न हो,तुम किसी गतिसे आये हो और किसी गतिको चले जावोगे। यह मुखसे बोलनेकी जरूरत नहीं है, किन्तु अंतरंगमें गुप्त ही रहकर समझ लेना है। इतना सोचकर अपनी तकलीफ मेट लो।

जीवकी द्वितीय मलीनता—दूसरी मलिनता है इस जीवमें कामकी, काम विकारकी। दूसरोंका शरीर सुहाना गंदे अभिप्रायसे, यह है कामविकार। यह भी बुद्धिको बड़ा मलिन कर देता है, अज्ञानी बना देता है। सोचो कि जो मुझमें गंदा विचार आनेको है वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका और अनन्त आनन्दमय रहनेका है। ये कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर विकार हुए। दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम। पर उपाधिजन्य जो ये काम कर्म आदि विकार है ये दूर हट जावें, मैं अपने आत्मप्रदेशोंमें स्वाभाविक आनन्दमय रहूँगा। अपने स्वभावकी

परिणामोंकी, स्वरूपकी खबर रखना यही कामविकारको जीतनेका अमोघ उपाय है। कामीजन अपने कामपूर्तिके बाद क्या संतुष्ट रहते हैं ? नहीं। पछतावा करते होंगे, संतुष्ट नहीं रहते ! काम तो एक पिशाच हुआ, उसके वेगमें बुद्धि हार गई इसलिए वह काम सुहाता है, पर इसके बाद इस भोक्ताको क्लेश ही हुआ करते हैं। ऐसा खोटा विकार है कामका।

जीवमें तृतीय मलीनता—तीसरा विकार है क्रोधका। यह क्रोध ज्वाला सर्व गुणोंको फूक देती है। कोई कितना ही गुणी पुरुष हो, संयमी हो, बली हो, और उसके क्रोध आता है तो वे सब गुण समाप्त हो जाते हैं। किसीने आपका कितना ही भला किया हो, पर यदि उसे क्रोध आ जाय तो किया कराया उपकार सब खतम हो जाया करता है। एक टूटी-फूटी संस्कृतमें लोकोक्ति है 'पक्षीणां काकचाण्डाल: पशुचाण्डालगर्दभ: । मुनीनां कोपचाण्डाल: सर्वचाण्डालनिन्दक:" यह टूटी-फूटी संस्कृत है, शुद्ध नहीं है। पक्षी जितने हैं इन सब पक्षियोंमें चांडाल पक्षी कौन है ! कौवा। कौवा बिष्टा खावे, गंदी जगहपर रहे। सो कौवा पक्षियोंमें चांडाल समझा जाता है। एक किम्बदन्ती है कि यह कौवा भगवानके पास भी रहता था और मनुष्योंके पास भी आता था। भगवानकी जो बातें गुप्त हुआ करती थीं संसारके प्राणियोंके लिए, उन्हें कौवा आकर मनुष्योंको सुनाता था। कुछ दिन बादमें भगवानको पता पड़ गया ऐसे ही भगवान होंगे, उनकी चर्चा है। सो भगवानने कौवेको श्राप दे दिया कि तेरी चोंच विष्टा आदि गंदगीमें रहे। याने रे कौवे ! तुम, कफ आदिको खावोगे, इस प्रकारका श्राप भगवानने कौवोंको दे दिया। अब कौवा मिलकर भगवानके पास माफी मांगने के लिए गये। भगवानने कहा कि तुम्हारा काम गंदा था। तुम चुगली करते थे, तुममें दोगलापन था। दोगला मायने दो गले हो गए याने एकसे कुछ और कहा और उधर दूसरेसे कुछ और कहा। तो भगवानने कहा कि भाई माफी तो मैं नहीं दे सकता हूँ पर १५ दिनकी छूट दे सकता हूँ, १५ दिन तू मीठा खानेको पायेगा। वे १५ दिन है क्वार वदीके। तो पक्षियोंमें चांडाल कौन है ? कौवा। और पशुवोंमें चांडाल है गधा। अगर किसीको गधा कहदें तो कितना बुरा लगे। क्योंकि यह चांडाल है, घूरेपर लोटता है, यह गंदी चीजोंको खाता है। उसे बुन्देल खण्डमें कोई छूता नहीं है। यदि छिव जाय तो छूनेके बाद स्नान कर डालते हैं। तो पशुओंमें चांडाल हुआ गधा।

साधुवोंमें चांडाल है क्रोध। जिसके क्रोध है वह चांडाल माना जाता है। क्रोधी पुरुषोंको देखकर दर्शक लोग उसे बेचारा जैसा अनुभव करते

हैं, गरीब अनुभव करते हैं। तो मनुष्योंमें चांडाल है क्रोध। और सब जीवोंमें चांडाल है निन्दा करने वाला। निन्दा करनेकी आदत बहुत बुरी है। निन्दा करनेमें कुछ नहीं मिलता है। निन्दक लोग स्वयं परेशानीमें होते हैं और दूसरोंको परेशानीमें डालते हैं। तो तीसरा विकार है क्रोध।

जीवनमें चतुर्थ मलीनता—चौथा विकार है मान, घमंड, अहंकार; मैं ही सब कुछ हूँ, धनी हूँ, समझदार हूँ चतुर हूँ माने जारहा है अट्ट सट्ट। पर हे आत्मन्! कुछ पता है? कर्मोंके पेरे हुए हो विकारोंसे दुखी हो, जन्म मरण का ठिकाना नहीं, संसारमें कबतक रुलना है, इसका कुछ पता नहीं। मदमें बढ़े जारहे हो, अपने आपमें यह विश्वास करो कि मैं मदरहित हूँ, शरीरसे न्यारा हूँ। यह शरीर तो नष्ट हो जानेवाला है। जो मद किया जारहा है उस मदके करनेसे जल्दी ही पापका उदय आयगा। सो जिनका मद किया जा रहा है वे सब समाप्त हो जावेंगे।

रूपमदका एक उदाहरण—भैया! सनतकुमार चक्रवर्ती था। जैसी यहाँ पुरुषोंमें सभायें हुआ करती हैं वैसी ही सभायें स्वर्गोंमें भी हुआ करती हैं। वहाँ इन्द्रने व्याख्यानमें कहा कि आजकल सनतकुमार जैसा रूप दुनियामें किसी औरका नहीं है। देवताओंसे भी सुन्दर रूप है। देव भैया मनुष्योंके ही जैसे होते हैं. फर्क इतना है कि हमारे आपके शरीरमें गंदगी है, पसीना है, खून है, और उनके ये चीजें नहीं हैं, और वे लगते हम आप जैसे हैं। तो आकार प्रकारमें कोई मनुष्य देवसे बढ़कर भी हो सकता है। तो उसे देव देखने आये। कब देखने आये जब कि वे कसरत करके मल्लयुद्धसे व्यायाम करके कुवापर नहानेके लिए बैठे थे। शरीरपर मिट्टी लगी है बाल बिखरे हैं, देवता आये कहा बाह, जैसा सुना था वैसा ही इनका रूप है, एक मंत्री बोला अभी क्या है, महाराज जब नहा धो लेंगे अच्छी प्रकारसे सजकर आसन पर दो बजे बैठेंगे तब देख लेना। देवने कहा अच्छा दो बजे देखने हम आयेंगे। अब क्या था? बड़ा शृंगार करके सजधज कर चक्रवर्ती सिहासन पर बैठे। देव आये। देवताओंने माथा ठोककर कहा-हाय! अब वह रूप नहीं रहा।

सौन्दर्य क्षीण होनेका कारण—अचानकमें जो सुन्दरता होती है मुखकी शरीरकी, वह सुन्दरता जतानेकी दृष्टिमें नहीं आती है। भैया, यदि वह सुन्दरता आती हो तो कोई बतावे। मैं लोगोंको बताऊँ कि मैं कितना सुन्दर हूँ? और क्या बतावोगे? बनावट करोगे तो उससे सुन्दरता न आ जायगी। लोगोंने पूछा कि सुन्दरता कहाँ गई तब देवने एक घड़ा पानी मगाया। एक सीक पानीमें बोर कर सीकमें लगा हुआ पानीका एक बूँद

बाहर गिरा दिया। लोगोंसे पूछा कि अच्छा देखो अब घड़ा कुछ खाली हुआ कि नहीं ? तो सब बोले कि महाराज घड़ा अब एक बूँद रीता हो गया है। इसी प्रकार इस जवानीका, इस सुन्दरताका भी प्रतिक्षण क्षय होता चला जाता है। धन किसी पुरुषके प्राण गवानेका कारण हो जाता है, यह धन अपमानका कारण भी हो जाता है। कौन सी जगतमें ऐसी वस्तु है जो मद करनेके लायक हो ? कुछ भी नहीं, सो मद एक चौथा विकार है।

जीवनमें पञ्चम विकार—पाँचवाँ विकार है मायाचार। यह मायाचार भी बिना प्रयोजनका है। मायाचारसे सिद्धि तो कुछ नहीं, बाधा ही बाधा है। अरे सरल बनो। किसी बातका गुनतारा मत लगावो।

जीवमें छट्ट विकार—छटवाँ विकार है लोभ कषाय। ये सब जीवोंके शत्रु है। प्रभुने इन ६ प्रकारके विकारोंपर विजय प्राप्त किया, इसलिए उनका आदर करते हैं उनके चरणोंमें आज सब भक्तोंने लाडू चढ़ाया। वह भगवान कुछ चाहता है क्या ? पर आपका भाव है इसलिए उनकी आराधना करते हैं। जो पुरुष अपनेको स्वच्छ बनाते हैं उनके मरनेके बाद भी हम आप याद करते हैं पर किसी धनीको कोई याद करता हो यह आपने नहीं सुना होगा। मरनेके बाद किसी धनीकी याद नहीं की जाती है। ये पार्श्वनाथ प्रभु शुद्धोपयोगके प्रसादसे अपने शुद्ध सहज चैतन्य स्वरूपके अध्ययनके प्रसादसे सदाके लिए संसारसे मुक्त हो गये। पूर्व संकटोंसे दूर हो गये। हम भी मुक्तिके अभिलाषी हैं तो भगवानके गुणोंका स्मरण करते हुए हम उनकी उपासना करते है। हम शुद्ध ज्ञानग्राही बनें, निन्दाग्राही न बनें दोषग्राही न बनें। अपने गुणों और दूसरोंके गुणोंपर दृष्टि दो तथा उन गुणोंसे ही प्रीति हो ऐसी यदि अपनी चर्या बनती है तो जीवन सफल है।

साधुवोंकी इस लोकसे उदासीनता—यह शरीर उपाधि कहीं हटाई नहीं जा सकती है इस कारण इसका पालन साधुवोंको करना पड़ता है। तो वे किस रीतिसे शरीरका पालन करते हैं इस विधिको ही २२६ वीं गाथामें बताया है। साधुजन लोकसे निरपेक्ष रहते हैं। उनका उपयोग अनन्त आनन्दमय एक स्वरूप शुद्धात्मतत्वमें लगा रहता है। उनको लोकमें अन्य कुछ सार ही नहीं नजर आता है। उनकी प्रकृतिमें सर्व कर्मोंके विपाकसे जुदा रहना बना रहता है। तो उनके कोई कषाय ही नहीं उत्पन्न होती है। यद्यपि ये साधुजन वर्तमानमें मनुष्य ही हैं पर मनुष्यपना होकर भी मनुष्योंके समस्त व्यवहारसे अलग हैं। उनका व्यवहार आत्माका पालन है इस कारण वे इस लोकसे निरपेक्ष हैं, वे इस लोकमें कुछ नहीं चाहते हैं। मेरे रहनेकी जगह

अच्छी हो लोग मेरे साथ बहुत हों, मेरेको अनेक साधन सुविधायें मिले। ये कुछ भी बातें साधुजन नहीं चाहते हैं।

साधुवोंकी परलोकसे अप्रतिवद्धता—वे इस लोकमें तो उपेक्षारहित हैं ही पर परलोककी दासतासे भी वे बँधे हुए नहीं हैं। उनको तृष्णा नहीं है कि अगले भवमें देवों जैसे भाव करूँ देव बनूँ या महाराजा बनूं ऐसी उनके तृष्णा नहीं होती है। सो वे परलोकसे भी अप्रतिवद्ध हैं। अतः उनका योग्य आहार विहार होता है। अयोग्य आहार क्यों करे ? उनको कुछ भी लोक के मौजोंसे मतलब नहीं है। जो मनमाने मौजकी वासनाएँ रखते हैं उनका ही मन स्वच्छन्द होता है वे अयोग्य आहार लेते हैं व अयोग्य चलनेकी क्रियाओंमें लगते हैं। साधुका आहार विहार शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिए होता है। जैसे एक व्यापारीकी चर्या और देश विदेशका भ्रमण मात्र पैसेकी प्राप्तिके लिए होता है। उनका उद्देश्य केवल एक ही है। तो यहाँ साधुजनों के आहार विहारका उद्देश्य शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति है। उनको संसारमें कुछ भी सार नहीं नजर आरहा है। सो केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वभाव तन्मात्र ही अपने आपका अनुभव करना यही उनकी एक प्रधान चर्या है।

साधुवोंके आहारविहारके प्रयोजनका प्रदर्शक एक दृष्टान्त—जैसे दीपक जलाते हैं तो दो काम अपन लोग किया करते हैं। एक उसमें तेल डालना और एक बातीका उसकाना। सरसोंके तेलका पहिले दिया जलाते थे, वह दीप बड़ा लाभप्रद होता था। तो उसके जलानेकी विधिमें दो बातें मुख्य थी। तेल डाल दो क्योंकि तेल कम हो गया तो यह दीपक बुझ जायगा तो उसमें तेल डाल दिया और साथ ही उनकी बाती ऊँचे उठाओ दीपक बढ़िया जलेगा तो जैसे दीपकमें तेलको डालना और बातीको उसकाना किसलिए है कि अर्थसमूह दिखता रहे, प्रकाश बना रहे। तो परिच्छेद्य अर्थकी प्राप्तिके लिए जैसे चिरागमें तेलको डालना और बातीकी उसकाना होता है इसी प्रकार आत्मशुद्धिके लिए पेटमें भोजन डालना और हाथ पैरका उसकाना है अर्थात् विहार करना है। भोजन लेना तो तैल डालनेकी तरह है और जो विहार है वह बाती उसकानेकी तरह है दूसरा कोई प्रयोजन नहीं।

ज्ञानस्वरूपके अनुभवकी उत्सुकता—साधुजनोंका यह परिणाम रहा करता है और त्यागीजनोंका भी यथासम्भव यह परिणाम रहता है कि उनका जीवन केवल इसलिए है कि मैं अपने शुद्ध सहजस्वरूप ही अपनेको अनुभव करूँ। इसमें ही निराकुलता है, कर्मोंका सम्वर और निर्जरा है। सो वे साधुजन इसलिए आहार करते हैं कि यह शरीर विकल न हो सके, मेरा

उपयोग आत्मतत्त्वके ध्यानमें लग सके। सो वे योग्य आहार करते हैं। योग्य आहार क्या है? इसको आगेकी गाथामें कहेंगे। और, इसी कारण योग्य विहार होता है। किसी एक जगह अधिक दिन रहना आत्मध्यानमें बाधक है। परिचय बढ़े, रागद्वेष हो इससे ऐसा वातावरण हो जाता है कि लोक-समूह में वह ध्यानका पात्र नहीं रहता। इसलिए चलना चाहिए। चलना तो चाहिए पर यों नहीं कि रातविरात भग दें अथवा ऊटपटांग चल दें। समिति-पूर्वक दिनमें योग्य परिणामोंसे चलनेकी, विहार करनेकी बात है।

अयोग्यवृत्तिके अभावका कारण कषायरहितपना— तात्पर्य यह है कि साधुजन कषायरहित होते हैं, उनको कषाय विपदा मालूम होती है, किन्तु कर्मका विपाक है, उठता है कषाय! उस कषायका ज्ञाता रहता है। यह कषाय मेरा स्वरूप नहीं है, जड़ कर्मोंका उदय पाकर यह कषायरूप परिणमन होता है। यह परिणमन मेरे बिगाड़नेके लिए होता है, मेरे विनाशके लिए होता है। यह श्रमण उस परिणमनसे भिन्न व अपने अस्तित्वके कारण जो सहज चैतन्य स्वरूप है उसको आत्मसात् करनेके यत्नमें रहता है। चूंकि साधु कषायरहित हैं इस कारण इस शरीरके अनुरागसे या दिव्य शरीरके अनुरागसे आहार और विहारमें अयोग्य वृत्ति नहीं करते हैं कि शरीरसे प्रेम हो तो 'खालें' बिना विचारे, जब चाहे तब खालें, भक्ष्य अभक्ष्यका ध्यान न रखें, दिन रातका कोई विवेक न रखें। ऐसी अयोग्यतासे ज्ञानी संत आहार नहीं किया करते हैं।

त्यागका फल अनाकुलता—भैया! कषायरहित संयम और चरित्रकी बड़ी कृपा है उसके प्रसादसे चिंताएँ मिट जाया करती हैं। एक बार भोजनपानका जिनके नियम हैं वे इस मामलेमें कितने अनाकुल रहते हैं? इसे कई बार खाने पीनेकी धुन वाले नहीं समझ सकते हैं। भोजन तब किया जाता है जब क्षोभ उत्पन्न होता है, क्षुधा उत्पन्न होती है, विकल्प बढ़ते हैं। और जब त्याग नहीं होता है तो संस्कारमें तो सदा बात बनी रहती है। सामने कोई चाट पकौड़ी बेचनेवाला आ जाय तो उसके लिए भी पेटमें कुछ न कुछ जगह दे दी जाती है। जिसके संस्कारमें निरन्तर खाने-पीनेकी ही धुनि है उसके धर्म चिंतनका कहाँ प्रवेश है? पहिले समयमें अपने बुजुर्ग लोग और अधिक नहीं, तो भोजनके बाद छह घण्टेको भोजनका त्याग कर दिया करते थे। उसमें छः घंटेकी वासना तो नहीं रही। तो उससे उपयोगमें एक योग्यता बढ़ जाती थी।

विषयान्धताका परिणाम—कुछ लोग सोचते हैं कि इस धर्मके रूपमें क्या रखा है? खाना छोड़दो, उपवास करलो, भोजन त्यागदो। उन्हें यह विदित

नहीं है कि यह भोजनका प्रसंग और उसकी वासनाका वनाये रखना यह एक ऐसी खोटी वासना है कि ऐसे वासित हृदयमें तत्त्वचिन्तन, ध्यान, ज्ञानकी बात समा नहीं पाती है। पाँच इन्द्रियोंमें से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय इन दो को तो काम माना है और घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन तीन इन्द्रियोंको भोग माना है। काममें उन योग्य वस्तुओंका भी विनाश या दलमलाना किया जाता है। और भोगोंमें वस्तुओंका विगाड़ नहीं होता है। भोगकी वस्तुयें दूर-दूर हैं, उनको चवाया नहीं जाता, मसला नहीं जाता। यह काम और भोगमें फर्क है। तो काम वाली ये जो दो इन्द्रियां हैं स्पर्शन और रसना इनका विषय इतना गन्दा है कि इनकी वासना वालेको धर्मकी प्रीति ही नहीं होती है। अतः विषयासक्त पुरुष अन्धोंसे भी महान अन्धा है।

भोजनका असंयम मनकी स्वच्छन्दताका परिणाम—भोजन तो कदाचित् आवश्यक है। पर भोजनमें नियम होना चाहिए। गृहस्थजन हैं तो दो वारका नियम रखें। पर जब हिसाब लगाते हैं भोजनका, तो सुबह तो चाय चाहिए, फिर थोड़ी मिठाई चाहिए, फिर भोजन दोपहरको खालें, सामको फिर भोजन, रातको फिर विना दूध पिये बात ही न बनेगी। अरे बात तो बन जायगी एक बारके भोजनमें। कभी गरीबी आने दो, देखो एकबारके भोजन से हट्टा-कट्टा रहते हैं कि नहीं। यह तो मनकी चंचलता है कि विना ५-७ वार भोजन किए न चलेगी। ४-५ बार भोजन किए बिना स्वच्छन्द साधुओंकी भी नहीं चलती। तो यह तो मनकी दुर्वलता है। गृहस्थोंकी तो यह बात है कि व्यापार करते हैं, श्रम भी वहुत करना पड़ता है, उनकी एक बार भोजन करनेसे नहीं चलती तो दोबार भोजन करेंगे फिर भी जितना अधिक वार भोजन करेंगे उतना ही आत्माका बल कम होता जायेगा, भोजनकी आसक्ति का, स्पर्शन इन्द्रियके विषयका वहुत अधिक गन्दा परिणाम निकलता है।

भोजनकी वेलायें—गृहस्थजनोंकी दो बेलायें नियत हैं भोजन करने की। वे दोनों ही बार भोजन करनेसे पहिले साधुजनोंका पडिगाहन करें। सुबह भी पड़ागाहें और सामको पड़गाहें। कोई साधु सुवह आहारके लिए नहीं उठा और सामको ही उठे, इसलिए दोनों बार श्रवकोंको पडगा-हनेका निमम है। साधुजन अक्सर सुबह ही भोजनके लिए उठते हैं पर जो सुबह साधु न उठा हो वह सामको जा सकता है। दो बारका भोजन बताया है गृहस्थोंको और दोबारमें से किसी भी समय एक वार आहारके लिए साधुको उठनेका विधान है। साधुओंको शरीरका अनुराग नहीं है, किन्तु मैं अपने धर्मको, श्रामण्यको पाल सकूँ उसके लिए शरीरमें तेल डालते हैं अर्थात्

भोजन करते हैं। साधु केवल एक शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिकी सिद्धिके लिए आहार करते हैं और उसी प्रयोजनसे उनका विहार चलता है। यों इस लोकसे निरपेक्ष और परलोककी तृष्णासे भी रहित होनेसे जो योग्य आहार विहार वाले हैं वे सही मायनेमें श्रमण हैं। अब यहाँ यह बतलाते हैं कि जो योग्य आहार करते हैं वे मानों साक्षात् आहार विहारसे रहित हैं—

जस्स अरोसणमप्पा तंपि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अरणं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

अनभिलाषीके अपरिग्रहता—जैसे न्याय और सच्चाईसे कमाने वाले गृहस्थको अपरिग्रही कहा जाय तो लोकमें अत्युक्ति नहीं मानी जाती है। सच्चाई और न्यायपूर्वक वे ही कमाई कर सकते हैं जिनके परिग्रहमें आशक्ति नहीं है। मुख्य बात अनाशक्तिकी है। जिनको वैभव और परिग्रहकी तृष्णा लगी है वे न्याय और सच्चाईको कहाँ देखेंगे? झूठ बोलना, अन्याय करना ये सब बातें आ पड़ती हैं। तो जैसे सच्चाई और न्यायपूर्वक कमाने वाला गृहस्थ मानों परिग्रही नहीं है इसी तरह योग्य आहार और विहार करने वाला साधु भी मानों साक्षात् अनाहारी और अविहारी है। आहार कर रहे हैं, जरा भी अन्तरायकी बात आये तो अहारको छोड़नेमें विलम्ब नहीं लगता, जिनको थोड़ी रुचि है वे अन्तराय आनेपर आधा मिनट सोचेंगे फिर छोड़ देंगे और जिनको अधिक आशक्ति है वे इस अन्तरायकी उपेक्षा कर देते हैं।

अनशनस्वभावी स्वकी भावनामें अयोग्य अशन असंभव—भैया! योग्य आहार करनेवाला पुरुष मानों आहार ही नहीं कररहा है। आत्मस्वरूप तो अनशनस्वभावी है, भोजन करनेका तो इसका स्वभाव ही नहीं है। इस ओर उन साधुवोंकी भोजनके समयमें भी दृष्टि रहती है। भोजन योग्य कब हो सकता है जब यह दृष्टि रहे कि मेरा तो भोजन करनेका स्वभाव ही नहीं है तब वह योग्य भोजन कर सकेगा। जैसे किसी प्रकारकी मन, वचन, कायकी चेष्टा करनेका मेरा स्वभाव ही नहीं है ऐसी प्रतीति रखने वाला ज्ञानी संत नैतिक आचरणमें निर्बाध सफलता प्राप्त कर सकता है और जिन्होंने अध्यात्मवाद देखा नहीं, आत्मकल्याणकी बात सुनी नहीं और लोक-व्यवहारकी ही बात सुनकर वे नैतिक आचरण करें तो उनके चूँकि अंतरमें पापका महाभय नहीं है तो अपने आचरणसे स्खलित भी हो सकते हैं। योग्य नैतिक आचरण और व्यवहार तब बन सकता है जब अपने आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका परिचय हो, यह शुद्ध तत्त्व अपने आपमें ही निहारा जारहा है, इसका तो मात्र जाननस्वभाव है। इसका भोजन पानका स्वभाव नहीं है

किन्तु भोजन करना पड़रहा है। ऐसे आशयसे वह ऐषणाके दोषसे रहित भिक्षाको ग्रहण करता है। इसलिए योग्य आहार वाले साधुजन साक्षात् अनाहारी ही समझना चाहिए।

आत्माका अनाहरणस्वभाव—इसी बातको अब स्पष्ट करते हैं कि जिस आत्माका अनशन स्वभाव है उस आत्माके अयोग्य आहारमें प्रीति कैसे जायगी ? यह आत्मा भोजन तो क्या समस्त पुद्गलोंके आहरणसे शून्य है। आहारपर्याप्तिमें आहार करनेका अर्थ नहीं लेना किन्तु शरीरके किसी भी अंगमें कोई भी परमाणु स्कंध जुड़ जाय तो उसे आहार ग्रहण कहते हैं। पेड़ों के मुँह नहीं है पर आहारपर्याप्ति जरूर है। वह अपने जड़ों तनोंमें पत्तोंमें शरीर वर्गणावोंको ग्रहण कररहा है। मुँह है हम आपके किन्तु दस-दस घटे, रात-दिन तक का भोजनका त्याग कर देते हैं लेकिन शरीरके अङ्गोंमें आहारवर्गणायें निरंतर आती रहती हैं। किन्तु इस आत्माका तो इन आहारवर्गणावोंको भी ग्रहण करनेका स्वभाव नहीं है, भोजनके ग्रहणके स्वभावकी तो चर्चा भी नहीं होसकती। भोजनके अर्थ तो जब मुँह खोलोगे, मुँह चलेगा, हाथसे कोर उठावोगे तब भोजन होगा। उसमें तो कुछ बुद्धि भी लगती है पर शरीरवर्गणायें शरीरमें आयें इसमें तो कुछ बुद्धि नहीं लगाई जाती है। फिर भी यह ग्रहण भी आत्माका स्वभाव नहीं है ऐसी भावनावाले के, साधुजनोंके सर्व प्रकारके भोजनकी तृष्णा नहीं रहती है। सरस, नीरस, रूखी, सूखी चीज हो, निर्दोष होना चाहिए उसे ही जो ग्रहण करते हैं व उसमें भी अनासक्त रहते हैं उनके तृष्णा नहीं कही जा सकती है।

अशन और अनशनके प्रति ग्रहस्थ और साधुकी सुगमता—गृहस्थजनोंको भोजन करनेके लिए बहुत विचार करना पड़ता है। अच्छा आज हम उपवास करेंगे, एकाशन करेंगे। करें कि न करें ? अच्छा कर ही डालें। हिम्मत बनाते हैं जब कि साधुजन भोजन करनेके लिए हिम्मत बनाते हैं, भोजन न करना उनके प्रयोजनमें सहज है। विकल्पही नहीं, खा ही नहीं रहे जब उनका शरीर क्षुधासे अतिपीड़ित हो जाता है, आवश्यक कार्योंमें उनके शिथिलता मालूम होती है तब सोचते हैं कि क्या चर्यामें उठ जाये ? उनको अनशन रहनेमें प्रसन्नता है और चर्या करनेमें ,भोजन करनेमें थोड़ी नाखुशी है विवेककी प्रेरणासे आहारके लिए उठना पड़ता है।

एकभक्तनियमिता—साधुका अनशनकी ओर ही झुकाव है। उनका भोजन अनेक वार हो ही नहीं सकता यदि उनके एक वारका भोजनका नियम न हो, सोचलें कि बड़ी तेज गर्मी पड़रही है, पानी तो मुफ्त ही मिला करता

है, थोड़ा पानी और पीलें, क्या हर्ज है अगर ऐसी शिथिलता हो तो फिर थोड़ा पानी चाहिए, फिर दूध चाहिए। फिर तो सब बातें बन जायगी तो साधुधर्ममें एक बार ही भोजनपानका बड़ा कड़ा नियम है। और फिर थोड़ी प्यास रहती है तो रहने दो यह बड़े उपकारके लिए है, इन्द्रियां मनमानी नहीं चलेगीं और विकार न जन्मेंगे। शरीरमें शिथिलता भी रहनी चाहिए और सामर्थ्य भी रहना चहिए। तव धर्मकी पात्रता होती है। अनशनस्वभावी आत्मतत्त्वकी भावनामय दृष्टिसे अंतरंग तप ही वलवान है ऐसी वे अपनेमें अनशन स्वभावकी भावना रखते हैं। उनके कदाचित् आहारकी वृत्ति हो तो आगमानुसार ही होती है।

अनशनस्वभावीकी दृष्टिके विना अनशनकी अयुक्तता—कलकी ही तो वात है कि मोक्ष सप्तमी हुई छोटी-छोटी ६-७ वर्षकी वच्चियोंने अनशन किया। अव वह उनकी रूढ़ि है इसलिए वे प्रसन्नवासे अनशन करती हैं। और कदाचित् किसी लड़कीसे अनशन न सधे तो उनके माता-पिता उनको खाने को देते हैं कि नहीं? खिला भी देते हैं। जानते हैं कि इनमें कौनसा तप है इनके तो धुन लगी है। कुछ लड़कियाँ तो भूखके मारे रोने लगती हैं। किसी तरहसे तास खेलकर दिन काटा, कुछ समय हमको घेर कर भजन, विनती पढ़ी। महाराज कोई कथा सुनावो। कोई वैठे-वैठे रोने भी लगी। फिर सामको खेला यों समय गुजरा उनका। अनशन तप कौन कर सकता है? जिसके हृदयमें ऐसी प्रीति हो कि मेरा तो अनशन स्वभाव ही है। यह बुद्धि वालिकाओंके कहाँसे आ सकती है? यों ही किसी अन्य आशयसे कोई भी अनशन करे तो वह युक्त अनशन नहीं है।

अनशनस्वभावी आत्मतत्त्वकी भावनासहित किया हुआ भोजन अमृत—साधुजन अनशनस्वभावी निज आत्मतत्त्वकी सदा भावना रखते हैं और उस अनशनस्वभावी आत्माकी रक्षाके लिए वे ऐषणा दोपसे शून्य भिक्षा भोजन को ग्रहण करते हैं। जैसे कोई गृहस्थको भूख न लगी हो अथवा ऐसी ही प्रकृति हो कि थोड़ा खा लेते हैं, जल्दी उठ आते हैं तो परोसनेवाला कहता है कि इन्होंने कुछ खाया ही नहीं है। अरे भैया! तौलकर अगर देखो तो दो तीन छटाक तो खाया होगा ही? पर मन लगाकर नहीं खाया, सो वह खाया न खायाके बरावर है, जिन साधुवोंको भोजनके समय भी अनशन स्वभावकी खबर रहती है उनका भी भोजन करना न करनेकी तरह है। दो चार दफे आप लोग भी करके देखें, भोजन कररहे हैं और थोड़ी यह भी दृष्टि रखते जायें कि यह आत्मा तो अस्पृष्ट है; शरीरसे, भोजनसे, किसी

चीजसे यह छुवा हुआ ही नहीं है। यह मात्र ज्ञानस्वरूप है ऐसी आत्माकी दृष्टि किसी समय करें तो सही, उस समयका भोजन आपको कैसा अमृत की तरह होता है।

निर्वाञ्छकका स्वास्थ्य—जैसे खाते समय मना करो कि हमें नहीं चाहिए और परोसने वाला जबरदस्ती दे तो वह भोजन जैसा शरीरमें लगता है उससे स्वास्थ्य बनता है। वैसा माँगकर खाने वाला भीतरमें यह परिणाम रखे कि और लावो, अच्छी चीज है क्यों नहीं लाते हो ? इस तरहसे लावो का परिणाम करके भोजन करे तो वह शरीरमें नहीं लगता है। इसी प्रकार भोजनकी आसक्ति करके भोजन करने वाले आदमीके स्वास्थ्यमें वृद्धि नहीं होती है। यदि भोजन करते समय यह भावना बने कि इस आत्माका अनशनका स्वभाव है तो इससे स्वास्थ्यमें वृद्धि होती है अर्थात् आत्मबलकी वृद्धि होती है। साधु आहार करते हैं तो अनाहारस्वभावी आत्माकी सिद्धिके लिए ही करते हैं इस कारण आहार करते हुए भी वे अनाहारी हैं, योग्य आहारवाले हैं सो अपने कारण या पर पदार्थोंके कारण जो बंध हो सकता है वह बंध वहां उनके नहीं है इसलिए वे साक्षात् अनाहारी ही होते हैं।

आत्मदर्शन व आत्माचरणका प्रताप—अविरतसम्यग्दृष्टि जीव सामायिक करने बैठा है आत्मध्यानमें लग रहे हैं और एक छठे गुणस्थान वाला मुनि आहार कररहा है, इसके आहार करते हुए भी अविरतसम्यग्दृष्टिकी कर्म निर्जरासे असंख्यातगुणी कर्मोंकी निजरा होरही है। चौथे गुणस्थान वालों के भी कर्मोंकी निर्जरा होरही है किन्तु चतुर्थ गुणस्थानमें तो अभी अप्रत्याख्यानावरण कषाय भी है और साधुके प्रत्याख्यानावरण और अत्याख्यानावरण ये दोनो भी कषायें नही सो ज्ञानी संतके प्रवृत्तिमें भी निर्जरा चल रही है यह सब दृष्टिका प्रताप है। जिस प्रकार साधुजन अपनेको अनाहारस्वभावी देखते हैं और अनाहारस्वभावी अपनेको देखते हुए आहार करते हैं, तो वे साक्षात् अनाहारी कहलाते हैं, इसी प्रकार अपनेको अविहारस्वभावी देखते हैं, मेरे आत्माका विहार करनेका स्वभाव ही नहीं है, यहाँ वहाँ दौड़ना, भागना यह मेरा स्वभाव नहीं है फिर भी कर्मप्रेरणा वश चलना होता है, सो साधुका समितिपूर्वक शुद्ध विहार होता है इस प्रकार वे योग्य विहारी होनेके कारण साक्षात् अविहारी हैं। इसप्रकार योग्य आहार विहार वाले साधुपुरुप मानों साक्षात् अनाहारी और अविहारी हैं ऐसा वर्णन करके अब साधुके युक्ताहारपनेकी सिद्धि करते हैं—

केवलदेहो समणो देहेण ममत्ति रहिदपरिकम्मो ।
आउत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्ति ॥२२८॥

श्रमण केवल शरीरमात्र परिग्रहवाला है सो उसके शरीरमें भी ममताका परिणाम नहीं है वे चिन्मात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति वाले हैं। उन्हें कदाचित् आहार लेना पड़े तो भी देहसम्बन्धी अयोग्य अहारसे रहित है और अपनी शक्तिको न छुपाकर अर्थात् अपनी शक्तिको प्रकट करते हुए अपने शरीरको तपस्यामें लगाते हैं। शरीर तो शरीर ही है अर्थात् जीर्णशीर्ण होने वाला है, मिटने वाला है, जो लोग इस शरीरसे प्रीति करते हैं, शरीरसे मोह करते है, शरीरसे काम करनेमें आलस्य करते हैं, यह शरीर मेरा है, मुझे बड़े आरामसे रहना चाहिए ऐसा जानकर जो शरीरको प्रमादमें रखते है, दूसरे जीवोका उपकार नहीं करते हैं, क्या हाल उनका होगा शरीर तो मिट जायगा जला दिया जायगा, किन्तु खुदगर्जीकी अधिकताके कारण वे न इस लोकमें सुखी रह सकते हैं और न पर लोकमें सुखी रह सकते हैं। ज्ञानी संत शरीरके कंजूस नहीं होते साधुजन अपने शरीरको संकटहारिणी आत्मसिद्धिके अर्थ तपस्यामें लगाये रहते है।

साधुका मुख्य काम आत्मध्यान है। जो आत्मध्यान में अधिक नही रह सकते वे ६ आवश्यक कामोमें लग जाते हैं उन्हें फालतू बैठनेका अवकाश ही नहीं है। गृहस्थ हो या साधु हो, फालतू बैठना उनके लिए अधिक बुरा है। फालतू बैठनेका अर्थ यह है कि न तो धर्मका ही कोई काम करता हो और न कोई लौकिक अर्जनादिक काम करता हो, फालतू बैठा हो। जो फालतू बैठा रहता है। उसके चित्तमें नानाप्रकारके विकार भाव उत्पन्न होंगे। इसलिए सत्य समझलो कि न शरीर अपना है और न धन अपना है और मन, वचन भी अपने नहीं है, तब ऐसा मोह न रखो कि मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ घरमें बसे हुए ४ जीवोंके लिए ही हैं। कुटुम्बके लिए लुट मत जावो, अपना भी अस्तित्त्व समझो अपनाभी कुछ गौरव समझो लोकव्यवस्था के नाते कुटुम्बकी रक्षा करो, कुटुम्ब के लिए अपनी आत्माको मत वेच दो। अगर अपने आत्माको वेचनेकी ही प्रकृति हो, तो प्रभुको, सद्गुरुवोंको अपना आत्मा वेचो अर्थात् उनमें अनुराग भक्ति करो, उनका स्मरण करो।

कायक्लेशतपसाधना—मोही जन ससारमें रुलनेवाले अज्ञानी जीवोमें अपने आत्माको वेचे जा रहे हैं। श्रमणजन अपने शरीरको आत्मसाधनामें झोंक देते हैं। अनेकों साधुसंत पहिली गृहस्थावस्थामें कहाँ तो राजा महाराजा जैसे आराम भोगते थे, गद्दा तकियोंके विना कभी न सोते थे और

कहाँ अब साधु होनेके वाद कंकरीली जमीनपर लोटते हैं, पृथ्वीपर लोटते हैं, काठपर लोटते हैं। इस शरीरको कुछ नहीं समझ रखा है। कहाँ तो हाथी, घोड़ा, मोटर, वग्घीके विना कदम नहीं रखा करते थे और कहां अब ककरीली, पथरीली जमीनपर भी पैरों बिहार कररहे हैं। भैया ! इस शरीर पर उनकी अनुग्रहदृष्टि है क्या ? नहीं। कहो, गर्म पहाड़ोंपर तपस्या करने वैठ जायें, शीत ऋतुमें ध्यनस्थ वैठे रहें, वर्षामें वृक्षके नीचे कायोत्सर्ग करें, आहार कभी-कभी कर सकें, अनेकों अनशन होजांय। ऐसी तपस्यामें साधुजन अपनी देहको लगाते हैं।

देहके सम्वन्धमें साधुके अनादरभाव—श्रमणके निकट केवल देहमात्र उपाधि रह जाती है। वह उपाधि श्रामण्य पर्यायकी सहकारी कारण है। रह गया है देह सो जबरदस्ती उस देहके सम्वधको सहरहे हैं। उनकी भावना तो समस्त पर द्रव्योंसे अलग रहकर केवल ज्ञानमात्र आत्मानुभव करनेकी ही है पर यह देह चिपटा चिपटा फिररहा है। तो सहरहे हैं इसका संग। उनके अनुराग नहीं है वे तो देहके सम्बधको एक कष्ट मानते हैं। उसको कहाँ डाल दिया जाय ? वह देह तो है तिसपर भी इस देहमें यहाँ क्या है मेरा ? यहां मेरा कुछ नहीं है, सो जैसा कि परमेश्वर भगवंत अरहंत देवोंने वताया है उस ही उपायसे चिंतन करके श्रमण जनोंने निर्णय किया है कि यह देह अनुग्रह करनेके योग्य नहीं है।

शरीरकी अननुग्रहार्हता—जैसे किसी दूसरे जीवके प्रति आप बड़े प्रेमसे बोलते हैं, उसका चित्त न दुःख जाय, उसे कष्ट न हो, सन्मार्ग मिले यह जीव अनुग्रहके योग्य है, वैसे यह देह किसी प्रकार भी अनुग्रहके योग्य नहीं है। अरे ५-७ चटाइयाँ विछानेको चाहिए, नहीं तो कुछ शरीरमें गड़ जायगा, ऐसे अनुग्रहके योग्य शरीर नहीं हैं। बड़े आरामसे रहना चाहिए, यह मैं साधु हूँ, आचार्य हूँ, ढंगका ही सव मामला चाहिए ऐसा उनको शरीरपर अनुग्रह नहीं है। वे शरीरको छोड़कर ज्ञानमें विहार कररहे हैं और यह शरीर उनके पीछे-पीछे लगा फिररहा है। साधु शरीरके पीछे नहीं लगा फिररहा है किन्तु यह शरीर साधुके पीछे लगा फिररहा है।

साधुकी शरीरके प्रति उपेक्षा—जैसे दो मित्र साथ जारहे हैं, पर उन मित्रोंमें भी कोई मित्र प्रभावक है और दूसरा उससे कुछ कम है। उनमें से एक एकके पीछे लगरहा है पर देखनेवालेको क्या पता पड़े कि इनमें से कौन मित्र पीछे लगरहा है। हाँ वे दोनों जरूर समझरहे हैं। इसी प्रकार यह आत्मा और देह दोनों साथ-साथ लगे हुए चले जारहे हैं, साथ-साथ

बस रहे हैं, पर साधुके पीछे शरीर लगा रहता है या शरीरके पीछे साधु लगा रहता है इसे अज्ञानीजन क्या जानें ? साधुकी दृष्टि तो उसके आत्मस्वरूपकी ओर है, शरीरकी ओर दृष्टि ही नहीं है। साधुवोंके पास रहकर शरीर चैन नहीं पा सकता है। यह शरीर तो उनके पास चैन पाता है कि जिनके पास रहकर चैनकी धुनमें खुद बर्बाद हो जाता है। यह शरीर अनुग्रहके योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षाके योग्य है।

तनके प्रति विरक्तसंतकी वृत्ति—भैया ! अपने जीवनका यह एक लक्ष्य बनालें कि मेरे पास चारों चीजें बिनाशीक हैं और चारों ही मुफ्त मिली हैं। तन, मन, धन और बचन। ये मुफ्त ही मिले हैं और मुफ्त ही मिटेंगे। इनसे मेरे आत्माका सम्बन्ध नहींहै। फिर भी ये मिले हैं तो भी अपने आपको न्यारा बनाए रहो। जितना बन सके उतना इनसे न्यारा अपनेको समझो। और जितना बन सके इन चारोंका उपयोग परजीवोंके लिए होने दो। इसमें केवल शोभा व शृंगार ही नहीं है, आन्तरिक प्रसन्नता भी है। यह शरीर अनुग्रहके योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षाके योग्य ही है। उपेक्षायोग्य होकर भी शरीर धर्मसाधनाके लायक बना रहे। इतने मात्रको कदाचित् थोड़ा आहरका यत्न करते हैं। शरीरकी अधिक खुशामदसे शरीरकी पुष्टि नहीं होती। गरीबके बच्चोंको खटियातकका भी तो आराम नहीं है, जमीनपर पड़े रहते हैं और पुष्ट रहते हैं। इस शरीरकी हम ज्यादह खुशामद करें, इसको हम रसीले और अनेक भोजनसे पुष्ट रखें तो यह रहेगा, नहीं तो न रहेगा, यह बुद्धि छोड़ दीजिए।

ज्ञानियोंके अनुचित आहार ग्रहण असम्भव—भैया ! यह शरीर मोक्षके योग्य ही है ऐसा साधुजन निर्णय रखते हैं इसी कारण समस्त संस्कारोंका साधुके त्याग हैं। नहायेंगे नहीं, दातुन नहीं करेंगे, कोई श्रङ्गार नहीं करेंगे। सब संस्कारोंसे रहित साधुजन होते हैं। उनके ममत्वपूर्वक अनुचित आहार का ग्रहण कहाँ सम्भव है। जिनके शरीरकी भी उपेक्षा है वे अनुचित आहार कैसे लेंगे ? यदि कोई शुद्ध श्रावक शुद्ध निर्दोष मर्यादित और बड़ी भक्ति पूर्वक आहार देंगे तो साधु आहार ग्रहण करते हैं। चूँकि समस्त आत्मशक्तिको प्रकट करके अनशन स्वभावनामक तपके द्वारा उस देहको प्रर्व प्रयत्नोंसे लगा देते हैं इसलिए वे अनाहारस्वभावी हैं।

जैसे कमजोर गृहस्थसे आहार करना तो उछलकर बनता है और कोई उपवासका दिन आये, अनशन करनेका प्रसंग आये तो बड़ी हिम्मत करनी पड़ती है। अब चौदस आ गयी, अनशन तो करना ही पड़ेगा। हिम्मत

करना पड़ती है, किन्तु साधुजनोंको निराहार रहनेकी प्रसन्नता रहती है, क्षुधा तीव्र होनेपर भोजनके समयपर उनको कष्ट करके उठना पड़ता है। अब आहारके विकल्पमें ऊधम मचाने जाना पड़रहा है। ऐसे भाववाले इस प्रकृतिवाले संतजन युक्त आहारवाले ही हुआ करते हैं। जितने भी सदाचार हैं वे सब आत्मज्ञानकी नीवपर खड़े हुआ करते हैं। जिसके आत्म-ज्ञान पूर्वक सदाचरण नहीं है उनका सदाचार हाथीके स्नानकी तरह है, अभी तो नहा लिया और थाड़ी देरमें सूंड़से धूल लेकर फिर शरीरपर डाल लिया। अभी सदाचार कर लिया, चार आदमी बैठे हैं, देख रहे हैं, अपने सदाचार का बड़ा बाना पहिन लिया, बता दिया, और जो कोई दर्शक न रहे तो अपने सदाचारको तिलांजलि दे दिया या शिथिल कर दिया।

आत्मज्ञानसे सदाचारकी पुष्टि—भैया ! आत्मज्ञानके बिना सदाचारके पालनेकी दशा अच्छी नहीं रहती है। इस कारण सर्वप्रथम धर्म बताया है सम्यग्दर्शन। आत्म-परिचय करो। शाखा-पत्ती डाली सींचनेसे वृक्ष हरा न रहेगा, किन्तु वृक्षकी जड़ें सींचो तो वृक्ष हरा रहेगा।। भला जब श्रावकजन या साधुजन प्रतिक्रमण करते हैं, लगे हुए दोपोंका प्रायश्चित्त करते हैं तो बाह्य कठिन नियम या तप तो करते ही हैं पर इतनेसे उनके नियमकी या दोपकी शुद्धि नहीं होती है। उनका वास्तविक प्रायश्चित्त तब पूर्ण होता है जब अपने दोपोंकी ग्लानि करके और सहज शुद्ध आत्माके स्वभावके ध्यानके द्वारा यह मुकाबला तकते हैं कि अहो कहाँ तो मेरा ऐसा निर्दोप ज्ञायकस्वभाव और कहाँ इन विकारोमें मेरा उपयोग चला गया। जब ऐसा अन्तर जानते हैं और उस अन्तरके ज्ञानसे बड़ा खेद मानकर उस ओरके विकल्पोंको तोड़कर ज्ञान-स्वभावमें लीन होनेका आनन्द पाते हैं और निर्णय करते हैं कि मैं तो केवल ज्ञान-स्वभाव मात्र हूँ, ये पाप और विकार मेरेमें होते नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, अविकार स्वरूप हूँ, मेरी स्वयंकी निधिमें कोई विकार नहीं है, ऐसे शुद्ध निर्दोप सहज स्वरूपको देख लेते हैं तो वहाँ प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तकी पूर्ति होती है। ज्ञानस्वरूमें गमन ही परमार्थप्रतिक्रमण है।

सदाचारकी नीव आत्मज्ञान—सदाचारकी नीव है आत्मज्ञान। जैसे किसी मकानकी नीव जमीन परसे ही खड़ी कर दी जाय तो वह थोड़े ही दिनोंमें गिर सकती है इसी प्रकार आत्माके ज्ञाता द्रष्टा स्वभावकी रुचि बिना इन्सा-नियतके कारण, कुलके कारण, लोकव्यवहारके कारण सदाचारका महल खड़ा किया जाय तो वह महल थोड़े ही दिनोंमें गिर सकता है, इस कारण सदाचारकी नीव जो आत्मज्ञान है उसको पुष्ट रखें, अपनेको ज्ञानमात्र ही

उपयोगमें लें तो यह सर्वोत्कृष्ट सदाचार है। इससे और बढ़कर आचरण क्या है, भैया! लौकिक सदाचारतो दुराचारका प्रायश्चित्त है, यदि हम पाप न करते होते तो मन्दिरमें आकर प्रभुके निकट सिर रगड़नेकी क्या जरूरत थी, हम आप पूजा इसीलिए तो करते है कि जो पाप कर्म हैं वे कट जायें। हम आप रागद्वेष करते हैं तो प्रभुके स्वरूपका स्मरण करके रागद्वेष कम कर लेते हैं। तथा, जो रागद्वेष मोहमें रहते हैं और खेद भी नहीं मानते इन साधनोंमें भी नहीं आते तो उनके ये पाप पुष्ट हो ही रहे हैं।

सदाचार और मिथ्यात्वका त्याग—उत्तम सदाचार क्या है? एक श्रामण्य समताभाव ज्ञाता, दृष्टा रहनेकी स्थिति। लोकसदाचार है ५ पापोका त्याग। ज्ञाता दृष्टाकी स्थितिमें क्या कोई पाप है? वहाँ तो पापोंका नाम ही नहीं है। स्वयं ही सर्व पापोका त्याग है, पर ज्ञाता दृष्टाकी स्थितिमें नहीं रह सकते हैं तो हमारा जीवन किसी व्यवहारमें ढला हुआ होना चाहिए। गृहस्थका जीवन अणुव्रतमें ढला हुआ होना चाहिए। उसके लिए प्रथम तीन बातोंका त्याग हो। (१) मिथ्यात्व (२) अन्याय और (३) अभक्ष्य। उनकी दृढ़ प्रतीति देव शास्त्र गुरुमें हो संकट आनेपर भी किसी बहकावेमें कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुमें प्रीति न जाय। क्या कष्ट है? मान लिया धन मिट गया, कुटुम्ब मिट गया अकेले रह गये। और अभी तो इससे भी बढ़कर बात हो सकती है। खुदका शरीर मिट गया, छोड़कर चले गये तो कौनसी बात यह अनहोनी हो गई। जो होना था सो ही तो हुआ।

रागरूप कष्टको मिटानेका सन्देश—भैया, अन्य वस्तुकी परिणति देखकर कष्टका अनुभव करें? कष्ट तो रागद्वेषके परिणामोंमें है। चीजके आने, जाने, बिगड़नेमें कष्ट नहीं है। रागोंका परिणाम मिटे, इसका उद्यम हो। रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञाता मात्र रहना मेरा स्वभाव है, स्वरूप है, ऐसी प्रतीति होना रागद्वेषोंके मिटानेका साधन है। जैसे कुछ लोग सोच लेते हैं कि क्या करना है? जाने दो, मेरा कुछ नहीं है। ये ज्ञानी जन सर्वप्रकारके रागद्वेषोंसे विरक्त रहते हैं। जानेदो परवस्तुओंका क्या परिणमन होता है, होने दो। उनके इन परिणमनोंसे मेरा क्या होता है? यह मैं तो केवल ज्ञान आनन्द भाव मात्र हूँ, ऐसे चिदानन्दस्वभावकी प्रतीति रखने वाले साधुजनों की बात प्रकरणमें चल रही है। वे साधुजन अनाहार अविहारस्वभावकी प्रतीतिके कारण योग्य आहार विहार वाले ही होते हैं।

अन्यायत्याग सदाचार—इस गृहस्थको मूलतः सदाचारकी बात कहाँसे शुरू करना है? मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यके त्यागसे। अन्याय न करो,

जो अपनेको प्रतिकूल जचे वह दूसरोंके प्रति आचरण न करो। अन्यायको कौन नहीं जानता कि मैं यह अन्याय कररहा हूँ। झूठ बोलना, चुगली करना, परधन हरना धोका देना विश्वासघात करना, परनारीपर कुदृष्टि करना, इन बातोंको कौन नहीं जानता कि ये सब अन्याय हैं। दूसरोंपर अन्याय करनेमें अपने आपपर अन्याय नियमसे है दूसरोंपर अन्याय करना क्या है कि दूसरोंको तकलीफ देनेकी चेष्टा करना। और अपने आपपर अन्याय करना यह कहलाता है कि अपना श्रद्धान ज्ञान और आचरण खोटा बना लेना। सो भैया! अपनी ऐसी वृत्ति हो जिससे दूसरोंपर अन्याय न हो और खुदपर भी अन्याय न हो जाय।

अभक्ष्यत्याग सदाचार—तीसरा सदाचार है अभक्ष्यका त्याग। जितना बन सकें, शक्तिको न छिपाकर अभक्ष्यका त्यागी रहना चाहिए। आपकी शक्ति है कि अपने घरके अन्दर शुद्ध भोजन रोज किया जा सकता है जैसा कि व्रती श्रावक करते हैं। शक्ति है ना? मगर शक्तिको छिपाये हैं! एक तप कहलाता है शक्तितः त्याग। जिसका अर्थ है शक्तिके अनुसार त्याग करना। उसका भाव लोगोंने क्या लगाया कि शक्तिसे बढ़कर न करो, शक्तिसे कुछ घटकर ही त्याग रखना, परन्तु उसका अर्थ यह है कि शक्ति न छिपाकर त्याग करो। शुद्ध आहारप्रवृत्तिमें आपका ज्यादहसे ज्यादह ५ प्रतिशत खर्च होता होगा। अरे नहीं, बिल्कुल शुद्ध आहारमें कम खर्च है। देखो बाजारसे बनी चीजें मगाई जाया करती हैं, कहीं मिठाई हलवाईसे मगावो तो चार रुपया सेर मिलेगी और घरमें बनवालो तो २ रुपयामें बन जायगी। शुद्ध भोजनमें सब प्रकारका आराम है। हम आप मनको इतना स्वच्छन्द बना लेते हैं कि स्वाद आना चाहिए और आराम मिलना चाहिए। आराम तो मनके संयममें हैं। सो अभक्ष्यका त्याग करें व मनको वश करें।

सदाचारोंमें न्याय व सत्यव्यवहारकी प्रधानता—धर्म करो, धर्म करो सब कहते हैं किन्तु पुरुषोंके लिए तो धर्ममें मुख्यता यह है कि न्यायसे धनकमावें। इसमें बड़े प्रश्न होंगे। हम विशेष बात नहीं कह रहे हैं। सब जानते हैं कि योग्य नियत आय लेनेमें कमानेका न्याय है, जैसे व्यापारमें ५ प्रतिशत या १० प्रतिशतका जो मुनाफा रखने योग्य हो उसे आप अपने मनमें रखलें, और ऊपरी बातें कुछ करे! आप धन किसी भी प्रकार रख रहे हों। लिखना, पढ़ना, धरना, किसी प्रकार हो, पर मूल मंत्र जो न्यायका है उसे तो न छोड़ो और, यदि आमूलचूल प्रकट न्यायका जीवन हो तो फिर कहना ही क्या है। बाबूलाल नामके एक सज्जन है हरपालपुरके उनके यह नियम है कि कपड़ों

पर जैसे २ आने रुपया मुनाफा लें, तो वही लेते हैं। ग्राहक तो भाव ताव किया करते हैं ना! यदि सवा रुपये की चीज है तो उन्होंने कहा दो रुपया, ग्राहकने कहा १२ आने। अब १।।)में बात ठीक हो गई। ग्राहकने १।।)दिया तो ये वावूलालजी कहदेते हैं कि भाई ये चार आने तुम्हारे ज्यादह हैं ये चार आने ले जावो'। १।।) में तय किया तो क्या करें? तुम जैसे दिमागवालों को ठहराना पड़ता है। कोई तो जितना नियम है उतना वोलेंगे भी। यदि मूलमें न्याय न छोड़ा जाय और कदाचित् अन्य वात भी हो तो यह वहुत अशों तक न्याय ही कहलाता है। किसीको धोखा न दो, छल न करो मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्याग हो और अणुव्रतका पालन हो, प्रभुभक्तिमें और गुरु सत्संगमें स्वाध्याय संयम, तप, दानमें प्रवृत्ति रहा करे तो यह सब कुटुम्बके निर्ममत्वकी निशानी है, ऐसे धर्मसे गृहस्थधर्मका पूरा पड़ जायगा। अब आगे वे मुनिराज योग्य आहार किस प्रकारसे किया करते हैं इसका बड़े युक्ति पूर्वक कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

एक्कं खलु ते भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधालद्धं
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं २२६।।

साधुके दिनमें एकवार ही आहार लेनेका प्राकृतिक भीतरी कारण—एक वार किया हुआ भोजन ही योग्य आहार है, क्योंकि एकवार के भोजनसे ही शरीर की स्थिति सम्भव है। जीवनके लिए ही तो खाना है कि खानेका मौज लूटने के लिए खाना है। अज्ञानी मोही जन खानेका मौज लूटनेके लिए खाते हैं। पर जिन्हें बहुत वड़ा काम पड़ा हुआ है आत्मकल्याणका, उनको खानेके मौजकी भावना ही नहीं रहती है। जैसे जिसको धनकमानेकी धुन है ऐसे पुरुषको खानेके मौज की धुन नहीं रहती है। उनको यह होताहै कि खावो, जल्दी करो काम देखना है। आज काम वहुत पड़ा हुआहै, कुछ कलका रहा गया है तो जिसे खानेकी मौजसे बढ़कर बड़ा काम पड़ा हुआ है तो खानेके मौजकी धुन नहीं रहतीहै फिर तो जिसने खानेमें सार ही नहीं समझा और मोक्षमार्गका सर्वोत्कृष्ट काम जिसके आगे पड़ा हुआ है, उसको खानेमें मौज हो ही नहीं सकती

शरीरसेवाका लक्ष्य—जिन्हें न आत्मकल्याणका काम पड़ा, न देश सेवाका काम पड़ा है, न धन कमानेका काम है ऐसे लोग ही खानेकी मौज कर सकते हैं। ये जो वड़े देशसेवा करनेवाले नेता लोग हैं या जिम्मेदारीसे सरकारी काम करनेवाले जो मिनिष्टर आदि हैं उनको तो ठीक-ठीक खानेका समय भी नहीं मिलता होगा। सो भी जव देशपर संकट न हो तब वे भी मौज

लिया करते हैं। पार्टी होतीहैं, जलसोंमें ठसक पूरी करते हैं, पर साधुपुरुष तो कभी भी खानेमें या अन्य सन्मानमें मौज नहीं लेते हैं। वे इतने सावधान हैं कि आत्महितका काम सदा उनकी दृष्टिके आगे रहता है। शरीरकी स्थिति रखने का काम साधुजन क्यों करते हैं ? वे जानते हैं कि मेरा हित करने वाला तो निर्विकल्प समाधिपरिणाम है। और दूसरा कोई हित नहीं कर सकता। उस निर्विकल्प समाधिपरिणामका सहकारी कारणभूत यह शरीर है, सो साधु आत्मकार्य निकालनेके लिये शरीरको भोजन देते हैं।

एक वार भोजन करनेका सयुक्तिक कथन—यद्यपि शरीरको परिणतिसे आत्मामें कोई परिणति नहीं होती फिरभी शरीर रहताहै तो मन भी निर्विकल्प समाधिके लिए प्रेरणा देनेमें समर्थ रहता है। चूंकि अभी कोई मरणका समय नहीं है तो जवरदस्ती मरण कर लिया जायगा ऐसा तो योग्य है नहीं ना ! इस कारण वे साधुजन एक वार ही भोजन करते हैं। यदि अनेक वार भोजन करने लगें तो उसमें शरीरसे अनुराग सिद्ध होगा। शरीरके अनुरागके कारण ही लोग वार वार आहार लेते हैं। सो साधु यदि अनेकवार भोजन लेंगे तो वे अपनेको हिंसा रूप वना लेंगे। हिंसा दो प्रकारकी होतीहै (१) द्रव्यहिंसा और (२) भावहिंसा। जो कई वार भोजन करेगा उसके भाव हिंसा तो है ही क्योंकि शरीरकी प्रीति है, खानेका मौज चाहता है सो उसने अपना जो चेतन प्राणहै,ज्ञानदर्शन उपयोग है उसको तो विगाड़ दिया। तो भावहिंसा तो उसमें नियमसे है और अनेक काल भोजन करने की धुनमें भोज्यपदार्थमें हिंसाका वचाव भी नहीं किया जा सकता। एक वारके भोजनमें सावधानी रख लेंगे, इस कारण अनेकसमय भोजन करनेवाले वे साधु जन अपनेमें हिंसाका घर वना लेते हैं। इसलिए एक वार ही भोजन करना साधु पुरुष को योग्य है।

ऊनोदर भोजनके औचित्यका कारण—इसके वाद कोई यह कहे कि भाई अनेक वार भोजन करनेमें तो शरीरमें अनुराग वढ़ता है और शरीरके प्रेमके कारण अनेक वार भोजन करनेकी वात आती है पर अनेक वार भोजन ही न करें किन्तु भरपेट तन करके भोजन करें जिसे कहते हैं पूर्णोदर भोजन करना सो इसमें तो कोई हानि न होगी ? उत्तर-पूर्णोदर भोजन करना भी ठीक नहीं वताया, क्योंकि उसमें प्रमाद दशा आती है। अभी देखलो किसी वरातमें ठलुवा रहते हैं ना ? तो वहां डटकर भोजन किया करते हैं। घरमें तो कामके मारे नहीं खाते। वरातमें खाली वैठे रहते हैं और वढ़िया मिठाई आदि वनती है तो खूव भरपेट खाते हैं। सो प्रमाद

आता है और प्रमाद के अतिरिक्त तीव्र राग हो जाता है। कहीं पेट भी फूल गया। कहीं कुछ रोग हो गया तो यह आफत उसके व्याजमें भोगना पड़ती है। सो भरपेट भोजन भी योग्य नहीं वताया है। भैया यहाँ पर साधुजनोंकी वात चल रही है। वे आत्महितमे इतने सावधान रहते हैं कि उनके समक्ष एक मोक्षमार्गका ही काम रहता है। प्रमाद दशा हो जायगी इस कारण भरपेट भोजन प्रमादका कारण होने से, योग समाधिका वाधक होनेसे वह हिंसाका आयतन ही होता है इसलिए पूर्णोदर भोजन भी युक्त भोजन नहीं है, धर्मसाधनाके विपरीत है।

यथालब्ध भोजन ही साधुवोके योग्य है—फिर पूछा जाय कि भाई प्रमाद का कारण होनेसे भरपेट भोजन किया जाय, मानलो थोड़ासा खाया जाय मगर ढगका रसीला सुहावना तो होना चाहिए। इसमें तो कोई दोप नही है। है। सो कहते हैं कि रसीला, चटपटा भोजन करना भी योग्य भोजन नही जैसा भी मिले, नीरसभी मिले, वैसा ही भोजन करना योग्य है। यथावसर प्राप्त किया हुआ भोजन ठीक है। माँग करके भोजन करना ठीक नहीं है। अव्वल तो साधुओके चर्याके समय मौन रहता है, भले ही और लोग पर घरसे भिक्षा लेते हों, वमौन नहीं रखते हों और वता भा देते हों कि अमुक चीज लावो। एक अनेकभिक्षाभोजी साधु हमारे पास भी कुछ दिन रहेथे तो सुनिए उन्होंने सुनाया था कि किसीके संगमें भिक्षा लेने गये सो किसी औरत ने कुछ न दिया या कुछ असुहावनी वात कही। तो साधु कहता है कि तुम रत्नप्रभामें जावोगी। रत्नप्रभा नर्कका नाम है वह पढ़ी लिखी न थी। सो हाथ जोड़कर कहती है कि महाराज हमारा इतना अच्छा भाग्य कहाँ कि हम रत्नप्रभामें जावे। यह तो आपका ही भाग्य है। सो अपनी इच्छाके मागा हुआ भोजन आहार योग्य नहीं है क्योंकि उसमें विशेपप्रिय पनेका अनुराग सम्भव है। साधुजनोका यथालवध होता है। माग कर लाये हुए भोजनमें तो विशेष अनुराग है सो अवश्य करके वह हिंसाका साधन वन जाता है।

स्वेच्छालब्ध भोजनमें दोनों हिंसायें—भाव हिसा और द्रव्य हिंसा दोनों ही मांगें हुए भोलनमें लगते है। इच्छा हो गई और वह भोजन कुछ सदोप भी है तो लखोजी खालें, इच्छा है तो अनेक दोपोंकी परवाह न करके ले लेंगे तो भोजन साधुवों का यथारलब्ध ही योग्य होता है। यह तो सधुवोंके भोजनकी वात है। पर इस तरहके भाव कितने ही गृहस्थो होते है। जैसा मिले खा लिया। किसी किसी को तो रोज पूछना पड़ता है कि दाल काहेकी

बनेगी कहेंगे उड़दकी बने। आज साग किसका बने ? फलाँ चीजका। पर अनेक गृहस्थ ऐसे भी होते हैं कि कुछ भी बनालो जो बन जायगा खालेंगे। तो यथालब्ध भोजन ही साधुवोंका योग्य आहार है।

विधिवत् भिक्षालब्ध भोजनका औचित्य—कोई कहे कि ख़ैर माँग करके और अपनी इच्छानुसार यत्न करके प्राप्त किया भोजन तो दोष सहित है इसलिए न करना चाहिए। मगर निर्दोष प्रासुक स्वयं बनाकर खाया तो क्या है। साधुवोंकी बात चल रही है भैया भिक्षावृत्तिसे ही भोजन लेना योग्य है मांगकर नहीं, मांगनेमें तो भावहिंसा पूरी तरह है। स्वयं बनाकर या बनवाकर भी भोजन साधुका नहीं हो खाना बनाया तो आरम्भ सम्भव है। उसमें हिंसा अवश्य है। आप लोग जब भोजन बनाते हैं, साग सुगंधित मिल रही है तब तो दिल खुश होरहा है पर जब भोजन बनकर तैयार हो गया और खा लिया तब बर्तन माँजनेको नानीकी याद आती है। पहिले तो यह होता है कि यह भी बनाओ यह भी बनाओ पर बर्तन मांजनेमें बड़ा कष्ट होता है। भैया खाना बनानेमें भारी श्रम होता है और भोजन बनायें तो साधुजन पात्र रखें, और उन पात्रोंको कहाँ-कहाँ ले जाये ? यह भारी समस्या सामने आ जाती है। उन साधुवोंको केवल मोक्षमार्गका ही प्रयोजन है। उनके खानेकी धुन नहीं होती। जब वे क्षुधासे अधिक पीड़ित होते हैं और संयमकी साधना होती तब भिक्षावृत्तिसे आहार कर लेते हैं। इस प्रकार के आहारका सेवन करनेसे ही अन्तरङ्गमें शुद्धि हो सकती है।

दिवसमें ही आहारका औचित्य—अब आगे कहते हैं कि ठीक है हम इतनी बात कर लेंगे मगर कभी भूख लगी तो रातको भी खालेंगे इसमें कुछ हानि नहीं। सो ऐसा नहीं है। दिवसमें ही आहार करना योग्य है। दिनमें अच्छी तरह से निर्दोष भोजन दिख जाता है। रात्रिमें तो अच्छी तरहसे भोजन देखना बन ही नहीं सकता है इसलिए उसमें हिंसा अनिवार्य है। इसलिए रात्रिमें भोजन करना या कराना योग्य नहीं है तो जहाँ साधु २४ घण्टेमें एक बार आहार करके ही रहते हैं और उनके उपासक हम श्रावक जन हैं तो श्रावक रात्रिका भी भोजन न छोड़ सके तो कितनी खेदकी बात है। कमसे कम औषधि और पानीके अतिरिक्त कोई तीसरी चीज न ग्रहण करें। कोई कहता है कि रात्रिको दूध रख लें। तो दूधमें तो अन्य चीजोंसे अधिक हिंसा हैं। दूध गर्म किया जाता है उबाला जाता है, इससे तो जीवोंकी हिंसा है। जल और औषधि में भी हिंसा है मगर जो साधारण गृहस्थ निभा सके उसकी बात यहाँ कही जारही है। प्यास लगे तो

प्यासा रहना कठिन है सो पानी हो गया बीमार हो गये तो औषधि हो गई श्रावक जन तो रात्रिमें कुछ नहीं लेते।

रात्रिभोजन का त्याग गृहस्थोंके प्रति—भैया औषधिके बहाने भी दूध घी रातको खाये, सेमरमूरी संगममूरी उनके अनुपानके मिस दूध घी लें तो यह उनकी स्वच्छन्दता है। बीमार आदमीको तो दूधका परहेज बताया जाता है। खैर ! यहाँ प्रकरणमें मुनियोंका चरित्र बताया जाता है मुनियोंकी दृढ़ धर्म स्थिति जानकर श्रावकोंके के चित्तमें त्यागकी भावना आया करती है। देखो साधुवोंकी कैसी उपेक्षावृत्ति बनी रहती है कि जो कुछ भी आहार करने को मिल जाय उसमें ही सन्तुष्ट रहते हैं। भाई खालो कई बार पर यह आयु बीती चली जारही है, मरणका समय निकट आरहा है, दुर्लभ नर-जीवन चला जायगा। इस जीवनमें यदि लाभका काम न कर सके तो बादमें पछ-तावाकी बात आयगी। दृढ़चित्त होना चाहिए कि रात्रिमें जल और औषधि के अतिरिक्त तीसरी चीज नहीं लेना है। ऐसी हिम्मत बनालो। सामको न खा सके, भूखे रह गये तो क्या बिगड़ गया। एकाशन ही सही। कभी महीनेमें एक दो दिन भूखे रहनेका मौका पड़ जाय तो वह आरोग्यके लिए है। कोई स्वेच्छासे भोजन छोड़ नहीं सकता है पर कदाचित् यदि विवश होकर एक समय भोजन छूट जाय तो वह मेरे आरोग्यके लिए है। उपवास आरोग्यके लिए होता है, इसलिए उपवास स्वास्थ्यका साधक है, डरो नहीं। तो जल और औषधिके अतिरिक्त गृहस्थके तीसरी चीजका ग्रहण रात्रिको न होना चाहिए जबकि साधु की चर्या है एक बार खाना और यथा लब्ध खाना, जैसा ही नीरसादिक, किन्तु शुद्ध खाना मिल जाय वैसा खा लेना।

रसापेक्ष भोजनके अमृतपना—कोई यह कहे कि ठीक है ऐसाही आहार योग्य है मगर होना चाहिए दूध घी रसापेक्ष भोजन ही तो कहते हैं कि रसापेक्ष भोजन करना भी योग्य आहार नहीं है। मिल गया तो खा लिया न मिल सका, नहीं सही, पर रसापेक्ष भोजन करनेमें अन्तरंगकी शुद्धि नहीं रहती है। अन्तरंगकी शुद्धि तो अनशन स्वभावमें युक्त रहनेमें है।

हिंसा रहित भोजन—अन्तरंगकी शुद्धि अरसापेक्ष भोजन करनेमें है पर मधुमांस आदिक ये कोई रसकी चीजें नहीं हैं क्या ये लिये जा सकते हैं? उत्तर-नहीं। मद्य, मांस, मधु ये तो एक मोटे नाम ले लिये। उसका अर्थ यह लगाना कि किसी भी प्रकारका दोषयुक्त भोजन नहीं लेना। आचार शास्त्रमें जैसी पिण्डशुद्धि बताई है, आहार शुद्ध बताया है वैसा योग्य आहार लेना चाहिए। इसके विपरीत आहार न लेना चाहिए। मधुमासके त्यागका

तो उपलक्षण है। अर्थ उसका यह है कि किसी प्रकारकी हिंसा न हो ऐसा लो। बाजारकी चीजें न लिया करें क्योंकि वे अमर्यादित चीजें है, हिंसाके, दोपसे युक्त हैं। कितनेही दिनोंका रखा हुआ सामान होता है, सड़ा गला कर बनाया जाता है। जलेवी इत्यादि ऐसेही बनती है। ऐसे भोजन सब अभक्ष्य है। जो मर्यादाके भीतर है ऐसा ही आहार लिया जा सकता है।

दूधको अभक्ष्य माननेकी शकाका उत्तर—प्रश्न—दूध दही, दोनोंको लोग कहते है कि ये अभक्ष्य हैं। क्या ये अभक्ष्य हैं ? उत्तर—मर्यादाके भीतरमें दूध व दही अभक्ष्य नहीं। अण्डेसे रुचि करनेवाले युवक जन यह कहते है कि जैसा दूध है वैसा अण्डा है पर दूध और अण्डेमें महान अन्तर है। अण्डा जीवका योनिभूत होता है। अण्डेसे वच्चे निकलते हैं। कोई ऐसा भी अण्डा है जिसमें बच्चे न उत्पन्न होते हों ? लेकिन जीव उत्पन्न करनेका अण्डा साधन है। किसी अण्डेमें वच्चा न हो सका तो क्या जाति तो एक है। जैसे अनाज होता है। किसी अनाजके दानेसे पौधे हो जाते हैं कितनेमें नहीं, पर जाति तो एक है। दूसरी बात जैसे गाय भेंस दूध दिया करती हैं, मूत्र भी करती है। मूत्र तो हिंसा रहित है। गायसे निकलनेके कारण दूध मांसका अंश मानो तो मूत्र भी गायसे निकलता है वह तो मांसका अंश नहीं। मांस खून निकालने में पशुको बाधा होती है किन्तु दूधके निकालनेसे तो बाधा नहीं होता है।

दूधके उद्गमकी निर्वाधता—भले ही लोग मूत्र नहीं चाहते हैं, यह बात अलग है पर वह हिंसाकी चीज नहीं, इसमें मांस खून आदि नहीं है। जैसे भोजनसे या पाचनसे शुद्ध होकर मूत्र बनता है इसी तरहसे भोजन पाचनसे शुद्ध होकर एक दूध बनता है। दूध पानीका वहाँ हिसाब अलग है। यदि दूध न निकाला जाय तो गाय भेंसके पीड़ा हो जाय। दूध निकलनेसे पीड़ा नहीं होती है। और फिर ऋषियोंने यह भी बारीक बात बता दी है कि अन्तर्मुहूर्तमें यदि उस दूधको गरम न कर लिया जाय तो उससे जीवोंकी उत्पत्ति होती है। अगर दूधको कुछ ही घंटे रख दो तो उसमें जीव पैदा हो जाते हैं। जिस प्रकार कि अन्तर्मुहूर्तमें पानीको गरम न कर लिया जाय तो पानीमें कीड़े पड़ जाते हैं।

दहीके भक्ष्य व अभक्ष्यपनेका निर्णय—अब रही दहीकी बात। दूधको जमाया तो दही हो गया। एकही रात बीती हो तब तो दही भक्ष्य है, दो रात बीत जांय तो भक्ष्य नहीं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि खटाई का योग हो तो दूध दहीरूप हो जाता है। कोई कहे कि दुर्बीनसे देखते हैं तो उसमें कुछ चलता हुआ नजर आता है। तो आप दुर्बीनसे कुछ भी चीजें

देखें तो प्राय: आपको चलती हुई नजर आयेंगी। उसकी कुछ ऐसीही बात है। और फिर जो चीज गीली हो, कड़ी न हो तो वह तो हवाके चलने पर हिलती हुई नजर आती है। जो बहती हुई चीजें हैं उनमें कुछ न कुछ मामूली कम्पन रहता है तो ऐसा ही नजर आने लगता है। जो दही कई दिनका है उसमें खट्टा कई दिनका जामन लगा है इसलिए वह दही अशुद्ध हो जाता है। पर मर्यादित दूध और दही शुद्ध माने गये हैं।

भाव अहिंसाकी वृत्ति—समस्त प्रकारकी हिंसा त्याग करके बना हुआ आहार योग्य आहार होता है। साधुजनोंका उक्त प्रकारसे योग्य आहार क्यों करना चाहिए? द्रव्य अहिंसा व भाव अहिंसाकी सिद्धिके लिए। निश्चयसे ज्ञानानन्द ही है एक लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चयप्राण चेतना है उसकी रक्षा करने वाली अहिंसा हुआ करती है। याने रागादि विकल्प उपाधि न उत्पन्न हों तो अपने चैतन्य प्राणोंकी रक्षा है। जो जितना विशेष रागी होता है उसका उतना ही कमजोर ज्ञान होता है। राग न हो तो आत्मा विकसित होता है। तो जिसके राग है वह अपने ज्ञानकी हत्या करता है और ज्ञान ही आत्माका निश्चय प्राण है। अहिंसा रागद्वेषरहित वीतराग निर्विकल्प समाधि हैं। उसका साधक है द्रव्य अहिंसा अर्थात् बहिरंगमें पर जीवोंका घात न करना। यह द्रव्य अहिंसा भाव अहिंसाका साधक है।

दोनों हिंसावोंके त्यागसे शुद्धि—कोई कहे कि हमारा भाव तो निर्मल है। जीव मरते हैं तो मरने दो हमारे भावोंमें खराबी न आना चाहिए, जीवोंका आघात न करनेका यत्न हो। जो जीवोंका बध करता है या जीववधमें सामिल हैं उसके हिंसा तो है ही, पर भावहिंसा भी है। सो ये दोनों प्रकार की अहिंसायें योग्य आहार करनेपर ही सम्भव है आगममें जिस प्रकारका आहार योग्य बताया गया है उसके विपरीत यदि आहार बने तो यह योग्य आहार नहीं है, क्योंकि उसमें आरम्भरूप हिंसा है और हिंसा भी उसमें होती है। देखिए साधुका भोजन कितना कड़ा भोजन है जिसका निभाना साधुजनोंको तो बहुत सुगम है, पर श्रावकजन उसे कुछ कड़ेपनकी निगाहसे देख सकते हैं, क्योंकि सुविधासे परे श्रम करना पड़ता है।

साधुवृत्तिसे गृहस्थको प्राप्य शिक्षा—ऐसे साधुओंकी उपपासना करने वाले आपका ऐसा कब भेष हो? भावना रखो। साधुजनोंका हम कब अनुकरण करें? यह भाव होना चाहिए। उनका अगर एक बारका आहार है तो एक बार आहार करें, दो बार करें, तीन बार करें पर दिनमें ही करें। रात्रि भोजन करना बिल्कुल अयोग्य भोजन है। और अगर श्रावकजनोंने इस

बातकी ही उपेक्षा की तो केवल धर्मका ही नाम शेष रहेगा। धर्मका यथार्थ व्यक्तरूप न रहेगा। रात्रिभोजन न करना, छानकर जल पीना और प्रतिदिन देवदर्शन करना तीन तो बाहरी चिन्ह हैं। बच्चेको पहिलेसे ही आप बतायेंगे सिखायेंगे तो वे ठीक लाइनपर चलेंगे। उनको ठीक लाइनपर चलना न आया तो वे स्वच्छन्द हो जाते हैं इसलिए तीन चिह्नोंका बराबर सबको पालन करना चाहिए। देवदर्शन, जल छानकर पीना, रात्रिभोजनका त्याग करना। देवदर्शनका ऐसा प्रसंग है कि इसके करनेसे धर्मका वातावरण रहता है। और नहीं तो कमसे कम व्यसनोंसे अवश्य दूर हो जाते हैं। जुआ खेलने आदि व्यसनोंका भाव लोगोंके न होना चाहिए, इन तीन बातोंका सबको पालन करना चाहिए और फिर भैया ! जिस किसीसे बन सके वह कोई विशेष नियम ले कर त्यागमें प्रगति करें।

अब उत्सर्गमार्ग और अपवाद मार्गमें मैत्री है अथवा मैत्री बनी रहे इस प्रकारके आचरणका उपदेश करते हैं।

> बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
> चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवादि ॥२३०॥

साधुओंको उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गमें चलनेका सन्देश—बालक हो, वृद्ध हो या यात्राके श्रमसे थका हुआ हो या अन्य धार्मिक कार्योंके व्यासंगसे थका हुआ हो, रोगी हो तो ऐसे साधुओंके लिए बताया जारहा है कि वे अपनी योग्य चर्याको इस प्रकार आत्मसावधानी सहित किया करें कि जिस प्रकार मूल गुणोंका छेद न हो, अथवा जो मूल अपना समता परिणाम है उसका विनाश न हो। और संयमके सहकारी शरीरकी रक्षा हो उत्सर्ग मार्गमें तो यह बताया गया है कि उन बालक वृद्ध और थके हुए एवं रोगी साधुजनोंको भी इस प्रकारसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी साधना करते रहना चाहिए कि जिसमें मूल संयमका छेद न हो, ऐसा कर्कश योग्य आचरण करना चाहिए। उत्सर्ग मार्ग कठिन है। बालक हो, वृद्ध हो, थका हो, फिर भी अपनी शक्ति न छुपाकर संयमका कठोर आचरण करना चाहिए। यह तो है उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्गमें इन्हीं बालकादि साधु पुरुषोंको, चूंकि शरीर संयमका साधन है और संयम शुद्ध आत्मतत्त्वका साधन है सो इस शरीरके नातेसे कोई मृदु आचरण भी करना चाहिए।

साधुओंका मृदु आचरण—मृदु आचरण भी ऐसा योग्य हो जिसमें मूलभूत संयमका छेद न हो। यह उनका अपवाद मार्ग है। अर्थात् जैसे यात्रासे

थका हुआ है तो वह उपवास न करेगा चर्याके लिए आध घण्टा एक घण्टा पहिले उठ जाये अथवा जिनसे प्यास बुझती है ऐसे जलपेय आदिको अधिक ग्रहण करें, यह मृदु आचरण है किन्तु हो निर्दोष। ऐसा नहीं है कि थका हुआ है तो यथा तथा सदोष खालें कि भाई थके हुए तो हैं। सीमामें जो मृदु आचरण हो सकता है सो करें। जैसे सभा लगरही है, शास्त्र होरहा है या अन्य कोई धार्मिक कार्य उत्सव चलरहा है, सत्संग समारोह है वहाँ सब साधु पहुँचे पर यह थका हुआ है तो अपना अलग थोड़ासा विश्राम कर लेगा, उसमें नहीं पहुँच सकता तो यह सब मृदु आचरण है, कर्कश आचरण तो यह है कि तपस्यामें प्रगतिशील रहना।

उत्सर्ग और अपवादमार्गकी मैत्री—साधुजन उत्सर्ग और अपवाद इन दोनो साधनोंमें चलते हैं। इन दोनों मार्गोंकी परस्पर मित्रता होती है अर्थात् उत्सर्ग मार्ग तो अपवादकी अपेक्षा रखता है और अपवाद मार्ग उत्सर्गकी उपेक्षा रखता है। याने ढिलाई तो कड़ाईकी उपेक्षा रखकर होती है और कड़ाई ढिलाईकी उपेक्षा रखकर होती है तो काम आगेके लिये चलता है। केवल कड़ाईका मार्ग बिगड़ जायगा, केवल ढिलाईका मार्ग बिगड़ जायगा। जो लोग किसी भी बातकी सीमातीत कड़ाई करते हैं उन्हें कुछ समयके बाद बड़ी ढिलाईमें आना पड़ता है और फिर पीछे बड़ी विडम्बना और खेद होता है। जो लोग संयम और व्रतमें ढिलाईसे चलते हैं उनकी तो फिर आलोचना ही क्या करें ? वे तो भ्रष्ट हैं ही जोकि निरपेक्ष ढिलाई वाले आचरणमें पहुँच गये।

उत्सर्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीका हेतु—वृद्ध, बालक, श्रांत और ग्लान साधु पुरुष भी यथासमय अत्यन्त कर्कश आचरण करते हैं अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्वका साधक है संयम, सो मूलभूत उस संयमका विनाश न हो उसके लिए ये योग्य अत्यन्त कठोर आचरण करते हैं, मगर यह भी एक वृत्त है कि शरीर संयमका साधन है, तथा संयम शुद्ध आत्मतत्त्वका साधन है। सो मूलभूत इस शरीरका अकाल नाश न हो जाय, इसके लिये शरीर और संयम को नाशसे बचाते हैं। कोई संयम पर अड़ जाय और शरीरका योंही घात कराले तो वह भी उचित नहीं, और कोई शरीरके ही पोपणमें लग जाय और संयमकी परवाह न करे तो यह उचित नहीं हैं। सो उस मूलभूत शरीर-का नाश न हो जाय इस कारण उन बाल आदि मुनियोंको अपने योग्य मृदु आचरण करना है। अतः यह उपवाद मार्ग उत्सर्गसापेक्ष है और उत्सर्गमार्ग अपवादसापेक्ष है।

भगवंत अरहंतका देहस्वरूप—भैया ! आठ वर्षकी अवस्थामें भी मुनि बना जा सकता है। और उस अवस्थामें मुनि बनकर उत्कृष्ट ध्यान हो जाय तो अरहंत हो जाता है। देखलो, मनमें दर्शन करलो। ८ वर्षकी उमर वाले अरहंत भगवान होते हैं। किन्तु अरहंत अवस्थामें वह बालक शरीर न रहेगा। जैसा कांतिमान पूर्ण जवान सुन्दर शरीर होता है वैसा ही वह सुन्दर बन जायगा। किसी मुनिके फोड़ा फुन्सी हो, या कुष्ट आदि हो या और कोई अंग छिन्न भिन्न हो तो केवल ज्ञान होनेके बाद उनका सारा रोग दूर हो जाता है और छिन्न-भिन्न अंग भी पूर्ण हो जाते हैं और एक जवान कांतिपूर्ण सुन्दर शरीर होता है। नहीं तो सोचो कि कितना बुरा लगेगा अपनेको कि ये अरंहत भगवान हैं, इनकी कमर झुकी है। अब ये भगवान लंगड़े चल रहे हैं, पैरोमें चोट मुनि अवस्थामें हो गई थी। तो क्या यह भगवानका स्वरूप है ? जिसके आत्माकी अत्यन्त निर्मलता हो जाती है वह शरीर स्वयं ही पूर्ण एवं कान्तियुक्त हो जाता है।

परिणामोंकी मलीमसता भयंकर उपद्रव—कोई पुरुष यदि अपने परिणामोंको निर्मल बना लेता है तो उसके प्रतापसे रागोंको त्याग करके केवल हो लेता है। प्रथम तो परिणामोंकी मलिनता सबसे बुरा रोग है। यह अपने अन्तरमें भावना रखो कि हे प्रभो ! ये उपद्रव तो कितने ही आ जायें मगर परिणामोंमें मलिनता, विशेष विकार ये उत्पन्न न हों। उपद्रव दुनिया में क्या आयगा। कोई बुरा बोल देगा ? किसीने गाली दे दिया। किसीने पीट दिया या कुछ किया। यह कोई कष्ट है क्या ? यह कोई उपद्रव है क्या उपद्रव तो आत्माके भीतरका है। राग विशेष हो गया, मोह बढ़ गया। काम क्रोध बढ़ गया। अब इन विकारोंके कारण वेदना हुई, आकुलताएँ हुई, जो न सही गई तो कितना अटपट काम किया जाता है। कितना भयंकर रोग है मलिन परिणामोंका होना। और मलिन परिणाम न हों तो कौन पीटेगा ? कौन दुःखी करेगा ? हम खुद मलिन बनते हैं, खोटी प्रवृत्ति करते है, खोटे व्यवहार करते हैं तो हमें दुखी होना पड़ता है।

मलीमसताका मूल मिथ्यात्व—भैया ! सब रोगोंकी जड़ है मलिन परिणाम और मलिन परिणामोंकी जड़ है तो मिथ्यात्व भाव। व्यर्थ ही बैठे बैठे पर पदार्थोंमें गृह मेरा है, यह मैं हूँ, इसमें ही मेरा हित है, इस प्रकार अंतरङ्ग में अशुद्धता बनाली यह गंदा परिणाम है। करना कुछ पड़रहा हो यदि श्रद्धा सही है तो उसके यथासंभव कर्मका क्षय हो सकता है पर उल्टी श्रद्धा बनाली जाय तो उसके कर्मका रंच भी क्षय नहीं हो सकता। जो

श्रद्धावान पुरुष हैं वे ही इस जगत्में सत्यपथ पर है, अनाकुलता है उनमें, भय की उनको कोई बात नहीं है, पर जो सत्यश्रद्धाहीन पुरुष है वे करोड़पती हो जाएं तो क्या हुआ ? आखिर वे गरीब हैं, दुःखी हैं अशान्त हैं।

ये जड़ समागम तो शीघ्र विघटने वाले हैं इन समागमोंमें मुग्ध मत होओ। सर्व पर द्रव्यों और परभावोंसे पृथक् निज चैतन्यस्वभावको परखो। इससे ही शान्तिका लाभ होगा। अन्यथा तो मिथ्यात्व भावके फलमें जैसा अब तक संसारपरिभ्रमण किया है यही फल होगा। सर्व मलीमसतावोंका मूल हेतु मिथ्यात्व है।

अपवादमार्गका प्रयोजन उत्सर्गमार्गकी सिद्धि—साधुजन अपने उत्सर्ग मार्गके लिए ही कसे हुए होते हैं और उत्सर्गमार्गकी सिद्धिके लिए ही कदाचित् अपवाद मार्गपर चलते हैं, किन्तु अपवादके लिए अपवादमार्ग पर नहीं चलते हैं। ये अपवादमार्गसे उलटा सीधा काम नहीं लेते, किन्तु आगमके अनुकूल उन प्रवृत्तियोंसे चलते हैं जिस प्रकार कि उत्सर्गकी अपेक्षा रखते हुए अपवाद का व अपवादकी उपेक्षा रखते हुए उत्सर्गका वर्णन आगममें किया है अपवादमार्ग में भी साधु उत्सर्गकी उपेक्षा नहीं छोड़ेंगे।

उत्सर्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीके आचरणमें सुन्दरता—वे बालक 'वृद्ध, शान्त और ग्लान साधुजन चूँकि संयमसे रहते हैं और संयम ही शुद्ध आत्मतत्त्वकी सिद्धिका साधन है और संयमका सहकारी कारण है शरीर सो मूलभूत इस शरीरका ही छेद न हो जाय सो उनको योग्य कोमल आचरण करना चाहिए फिर भी यह ध्यानसे न भूलें कि संयम शुद्ध आत्मतत्त्वका साधन ही इस संयमका विनाश नहीं होना चाहिए, सो संयमकी साधनाके लिए अपना योग्य कर्कश आचरण करना चाहिए। उसी प्रकार अपवादमार्ग भी उत्सर्गकी उपेक्षा रखने वाला होना चाहिए। सो यह निश्चित है कि उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गकी मैत्री बनी रहे तो वह आचरण सुन्दर है। यह है साधु पुरुषोंके मार्गकी उत्सर्ग और अपवादकी मित्रता वाली बात।

गृहस्थोंमें मृदु आचरणका आधिक्य—भैया ! गृहस्थोंमें तो उनके योग्य उत्सर्ग व अपवादकी मैत्री और भी अधिक होना चाहिए। संभव है कि समर्थ साधुजन किसी समय उत्सर्ग मार्गकी ही दृढ़ता करते जायें तो वहां उनका विगाड़ नहीं है। बाहुबलि महाराजका उत्सर्गमार्ग देखिए साधु होनेके बाद पानी भी नहीं ग्रहण किया। दो कदम भी नहीं चले, और उत्सर्गमार्ग में रहे कुछ विगाड़ नहीं हुआ। श्रावकजन अपने किसी उत्सर्गमें हठ करलें, कोई ऊँचे आचरणका हठ करले कि साधुजन तो ऐसा किया करते हैं, हम

भी साधुवों जैसा आनन्द लेनेके लिए यह कर रहे हैं, नग्न हो रहे हैं, नग्न फिर रहे हैं, अच्छा है, हम भी एक दिन फिरलें, ऐसा हठ करलें अथवा साधुजन इतनी कठिन तपस्या करते हैं, गर्मीके दिनोंमें चट्टानोंपर तपते हैं, और-और भी कठिन घोर आचरण करते हैं। श्रावक सोचें कि हम भी करलें तो श्रावकको इतना उत्सर्ग करनेका अधिकार नहीं है। वे मृदु आचरणमें बहुत रहते हैं। मृदु आचरणमें तो लोग किसी-किसी जगह इतना नाजायज फायदा उठाते हैं कि मन्दिरमें रुईके भरे हुए गद्दे बिछ जाते हैं। जिनपर बैठकर शास्त्र बाँचना, सुनना होता है। यह उनका नाजायज फायदा है। ऐसा तो न होना चाहिए, श्रावक धर्मके अविरुद्ध मृदु आचरण तो ठीक हैं।

उत्सर्गमार्गका दिग्दर्शन—अभी व्यवहारमें साधु पुरुष चल रहे हैं ना, सो मृदु आचरण करते, किन्तु अपने उस लक्ष्यका भी वे ध्यान रखते कि हमको आखिर करने योग्य वास्तविक काम क्या है ? और उसका यत्न करते, बस यही उत्सर्गमार्गकी अपेक्षा कहलाती है। उत्सर्ग क्या ? कि सबका परित्याग करना, किसीका विकल्प न करना, किसी बाह्य पदार्थको साथ न रखना। शुद्ध भावसे बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह रूप सभी पदार्थ त्याग किए जायँ, कामक्रोध आदि कषाय भी न रहें, बाह्य उपाधि भी न रहे, केवल ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति रहे ऐसी परिस्थितिको उत्सर्गमार्ग कहते हैं। चाहे सर्व परित्याग कहो चाहे परम आनन्दस्वरूप कहो, चाहे वीतराग कहो, चाहे शुद्धोपयोग कहो चाहे ज्ञानका शुद्ध रहना कहो, ये सब उत्सर्गमार्ग हैं।

सकलपरित्याग व एकदेशपरित्याग—उस उत्सर्ग मार्गमें लगनेवाले जो उत्सर्गी पुरुष हैं वे शुद्धात्माकी भावनाके सहकारीभूत शरीरकी स्थिति यथासमय तक रखनेके लिए कुछ भी प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं, ज्ञानकी विशेष साधनाके लिए किसी शास्त्र उपकरणको रखते हैं। साथमें एक शास्त्र रख लिया तो यह सब अपवादमार्ग हो गया साधुजनोंका, क्योंकि उत्सर्ग मार्ग तो केवल शुद्ध ज्ञानका था। तो यह सब व्यवहारनयका अपवादमार्ग है अर्थात् एकदेश परित्याग है। कल कोई भाई पूछ रहे थे हां भाई राजकुमारजी ही तो पूछ रहे थे कि परमात्मप्रकाशकी किसी गाथामें लिखा है कि मुनियोंका महाव्रत और समिति आदि आचरण एकदेशत्याग कहलाता है। सो कैसे है ? यहां अन्तर मिल गया कि एक देश और सर्वदेश का व्यवहार मुकाबले से हुआ करता है।

सर्व व एकदेशके अपेक्षाकथनका उदाहरण—जैसे कोई भारतकी ही बात कहता हो और किसी एक प्रांतमें कुछ गुजर गया हो तो कहते हैं कि

सब जगह तो नहीं हुआ। एक ही जगह तो ऐसा हुआ और दुनियांके मुकाबलेमें भारतको कुछ हो गया हो तो कहते हैं कि सब जगह तो नहीं हुआ, कुछ ही जगह तो हुआ। तो सर्व साधन और कुछ साधन यह मुकाबलेसे बोला जाता है। इसी प्रकार महाव्रत और अणुव्रतकी तुलना है। वहाँ महाव्रत तो कहलाता है सर्वदेश परित्याग और अणुव्रत कहलाता है एकदेश परित्याग। और, जहाँ क्रोधादिकका त्याग हो, विकल्पोंका त्याग हो, केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप वर्ते तो इस को कहते हैं सकल त्याग। तो उसके मुकाबिले महाव्रत और समितियोंका पालन करना एक देश परित्याग कहलाता है।

अपवादमार्गमें प्रवर्तनाका कारण—अपवाद कहते हैं, एक देश परित्याग को या अपहृत संयमको। धार्मिक सभामें आयोजन चलरहे हैं, स्वाध्याय कररहे हैं, साधुजन उपदेश देरहे हैं, किसीको शिक्षा देरहे हैं, वह साधुवोंका अपवाद मार्ग है या उत्सर्गमार्ग? अपवादमार्ग है। और साधु केवल शुद्धात्मतत्त्वमें लीन है, ध्यानस्थ है तो यह वृत्ति उत्सर्गमार्गकी है। उनमेंसे शुद्ध आत्माकी साधना व भावनाके लिए सकलपरित्याग करना चाहिए ना? और वह सकल त्याग दुर्धर अनुष्ठान है। सो उस कर्तव्यका ध्यान होनेपर भी कुछ अपवादमार्गमें प्रवर्तन प्रमत्त अवस्था तक होता ही है।

राग द्वेषके त्यागमें सकल त्याग—जैसे कहा जाय कि यह सब कुछ छोड़ दो, तो सब कुछ छोड़ देनेका अर्थ है कि रागद्वेष छोड़ो, विकल्प छोड़ो, सब कुछ छोड़ो। यह सब कुछ छोड़ना दुष्कर है। गुरूजी ने सुनाया था, हमें तो वह घटना याद भी नहीं है। हमारा नाम लेकर बोले कि इसके बाबाजी बीमार हुए और मरणासन्न हुए। वे ज्यादह न जानते थे। पहिले आदमी बहुत भोले होते थे। वे अधिक पढ़े लिखे न थे। हमने भी रोकड़ खातोंमें उनके अक्षर देखे तो देहाती ढंगके थे। उन अक्षरोंसे विदित होता था कि ठीक-ठीक पढ़े लिखे न थे। मगर सरल थे, जब उनकी बहुत बड़ी स्थिति हो गई तो इसके पिताजीने कहा कि अब तुम्हारी ऐसी स्थिति है जैसी मौसीकी हो गई मानें चिरोंजाबाईजीकी (जिन्होने महाराजजीको पढ़ाया है)।सास इसके पिता की मौसी थी। अर्थात तुम मरणासन्न हुए, अब तुम सब छोड़ दो। तो सब को छोड़नेकी बातसे मतलब तो था कि ममता छोड़ दो। दवा छोड़ दो यह अर्थ नहीं था। मतबब यह था कि हम लोगोंका मोह छोड़ दो, वैभवका मोह छोड़ दो कह कर चले गये। फिर इसकी माँ पहुँची और बोली दवा पी लो। तब बाबा कहते हैं कि अब नहीं पीवेंगे। मैया तो कह गया है कि सब कुछ छोड़ दो। सो मैंने सब छोड़ दिया। पानी ले आई और बोली पानी पी लो।

कहते हैं कि नही पियेंगे। भैयाने कहा है कि सब कुछ छोड़ दो। फिर कहा हमको खाटसे नीचे उतारो कपड़े उतारो। सब हटा दिया। केवल एक धोती रहने दिया। सब कुछ त्याग देते है। तीन दिन तक बिना खाना पीनाके रह कर शान्तिसे मर गये। तो सब कुछ छोड़ो इसका मतलब है कि राग द्वेष विकल्प कषाय इत्यादि सब छोड़ दो।

सकल परित्याग व एक देश परित्यागकी मैत्री—केवल एक अपने शुद्ध ज्ञान स्वभावका उपयोग बनाओ। यही है सकल परित्याग, और महाव्रत समितिका पालन करना, यह है एक देश परित्याग। सकल परित्याग तो उत्सर्गमार्ग है एकदेशपरित्याग अपवादमार्ग है। तो इस उत्सर्ग मार्गमें तपस्या करने वाले पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्वका साधक होनेसे मूलभूत संयमका छेद नहीं करता और संयमका साधन होनेसे मूलभूत शरीरका भी नाश नहीं करते, सो कुछ प्रासुक आहारादिको ग्रहण कर लेते हैं। यह अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग मार्ग है। और जब अपवादरूप अपहृत संयममें लगते हैं, जीवदया करना, शुद्ध आहार लेना इसमें लगते हैं तो भी शुद्ध आत्मतत्त्वका साधन जो मूलभूत संयम है उसका विनाश नहीं होता। अपवादकी मैत्रीसे उत्सर्ग मार्गमें लगते हैं। साधु न तो संयमका विनाश हो जाय और न संयम को सहकारी शरीरका विनाश हो जाय, दोनों ही बातोंमें सावधान रहते हैं।

उत्सर्ग व अपवादकी मैत्री रखनेकी सावधानीमें महान श्रम—भैया कितनी बड़ी सावधानी है? एक कामको कहो तो वह काम सब सावधानीसे एकदम किया जा सकता है। तुम खूब मनका खावो पियो, अपवाद ही किए जावो तो कितना सुगम लगता है। पड़े रहे, निद्रामें रहो, कुछ खालो, कभी खालो, जैसा चाहते हो वैसा खालो। कितना सुगम लगता है? और कहो कि कुछ न करो, केवल अपने आपमें रहो, सबको छोड़दो, एक ही काम है यदि उसकी दृष्टिमें एक ही काम है तो कर लेगा और न कर सके तो जो होगा फिर सो होगा। यदि इस सावधानीके लिए कहा जाय कि देखो आत्मध्यान और सर्व त्याग इतने दर्जे तक रखना अभी कि कहीं शरीरका घात न हो और शरीरका पोषण इतने दर्जे तकका रखो कि परिणाम न मलिन होने पाये; तो ऐसी मित्रताका निभाना बड़े विवेकका काम है।

व्यवहारधर्म व अन्तर्धर्मका समन्वय—अब पर्वोंके दिन आगये। कितनी धूमधाम मचेगी, पूजन विशेष होगा। समारोह होंगे। तो वहाँ यह भी ध्यान रखा जाय कि ये सब कार्य भी हम करें और हमारे मनमें कषाय न बढ़े, यह निर्मल भाव भी साथ बना रहे तो यह श्रावकोंके उत्सर्ग व अपवादकी

हो तो उसमें अल्प ही लेप रह जाय तो वह अपवादमार्गभी ठीक है।

मात्र उत्सर्गमार्गकी हठमें हानि—कोई एक उत्सर्ग मार्गपर अड़ जाय, मुझे तो खाना ही नहीं है, उसमें दोप लगता है, क्यों क्रिया करें ? ऐसे थोड़े दोपके भयसे यदि आहार विहारमें नहीं लगता है और अत्यन्त कठोर आचरण करके बीचमें ही शरीर गिरा देता है, मरण हो जाता है तो यहाँ तो जरासे दोपका भय किया कि हाथ पैर चलाना होगा और कुछ सोचना होगा, विकल्प करना होगा, उसमें दोप है। इस थोड़ेसे दोपके भयसे आहार विहार न किया, मरण कर लिया अव वह स्वर्गलोकमें जायगा तो वहां संयमरूपसे रंच भी तप नहीं है। स्वर्गलोकमें पहुँच गये तो तपका वहाँ अवकाश ही नहीं है। यहां उपाय कुछ न चल सकेगा। तो कितना वड़ा दोष हो गया। महान् दोष हो गया। यहां यह वात वतला रहे हैं कि उत्सर्ग मार्गका ही हठ करले कि मुझे हाथ पैर ही नहीं हिलाना है, क्योंकि मन, वचन, कायकी चेष्टासे कर्मवन्ध होता है तो आहार विहारका ऐसे सदाको त्याग है ऐसी हठ करके रह जाय तो यहाँ थोड़े दोपसे डरा था अव मरकर हो जायगा पूरा दोप। और यहाँ दो चार दस वर्प जीवित रहते तो अपने संयम और व्रतका विभाग देते रहते मगर अकालमें ही वह मरण कर देव वन गये सो देव वनकर मनमाना ऊधम (विपय लीला) करेंगे।

देवगतिके जीवोंके आन्तरिक कष्ट—भैया, ये देव लोग भी वहुत दुखी हैं। ये देवता लोग मनुष्योंसे भी अधिक दुखी हो सकते हैं। देवताओंको केवल इतना ही सुख होता है कि उनके भूख प्यास नहीं लगती है और भूख प्यास लगती भी है तो हजारों वर्षमें लगती है और तव कण्ठसे अमृत झर आता है, तृप्ति हो जाती है। इतना ही तो आराम है। इसी वजहसे उन्हें कमाना नहीं पड़ता, किन्तु दुःखी कितने हैं ? दूसरोंकी वड़ी विभूति देखकर ऋद्धि-सम्पन्नता निरखकर मनमें जलते रहते हैं हाय मेरे ऐसा क्यों नहीं हुआ ? अभी यहाँ इन मनुष्योंमें ही देख लो यदि खाने पीनेको ही न जुड़े तो यह चाहेंगे कि रोटियोंका सेजा हो जाय और मुझे कुछ न चाहिए। और कुछ सेजा ठीक हो गया और पैसे भी कुछ पल्ले पड़ गये, कुछ धनी हो गये तो अव तो भैया, उसकी उड़ान आकाशमें चलने लगी यह तो करोड़पती है, मेरे ऐसा क्यों न हुआ ? जव पेट भरा हुआ है, भूख प्यासकी वेदना नहीं रहती, कमानेकी आवश्यकता नहीं रहती तब प्रायः ऐव ज्यादह आ जाया करते हैं। ईर्ष्याकी ओरसे यदि उपयोग हटा तो फिर अपनी देवियोंके साथ प्रीति करनेमें अन्धे हो जाते हैं। उपयोग अपने आत्माकी ओर न रहे, अन्य पदार्थोंकी ओर लग

जाय तो यह कितने कष्टकी बात है।

अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गमार्गके हठकी अश्रेयस्करता—यदि ये साधु थोड़े दोषके भयसे आहार विहारको छोड़कर अकालमें ही मरण कर गये तो अब और बड़ा दोष कर गये। जैसे कोई बड़ी छुआछूत पालने वाली बुढ़िया हो, सबसे घृणा करे, ग्लानि करे, किसीको छुवे नहीं, यदि छू जाय तो गुस्सा आ जाय, आग बबूला हो जाय तो उसने व्यवहार तो कुछ बना लिया और किन्तु वृद्धावस्था होनेसे शिथिलता अधिक आ गयी तो जितनी छुवाछूत निभाया था उससे कई गुणा अधिक छूआछूत बन जायगी, पता नहीं किस-किसके हाथसे खाना पड़ेगा, पता नहीं किस-किसके हाथसे सेवा करानी पड़ेगी। ऐसे ही किसी साधुके थोड़े दोषके भयसे उत्सर्ग मार्गकी हट कर डाली तो परिणाम उससे भी अधिक विषैला निकला। और, अपवादमार्गमें बने रहते अर्थात् आहार समयपर योग्य अनुकूल करते रहते, और ज्ञान, ध्यान साधना से जीवन बिताते तो कोई समय ऐसा भी आ सकता था कि उत्कृष्ट ध्यान बन जाता, केवलज्ञान हो जाता, सदाके लिए संकट टल जाता। अब तो वही जन्म मरणका चक्कर बढ़ गया। सो अपवादमार्गकी अपेक्षा छोड़कर केवल उत्सर्गकी हठ करना भी साधुका कर्तव्य नहीं है। तो अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गमार्ग भी कदाचित् श्रेयस्कर नहीं है।

उत्सर्गनिरपेक्ष अपवादमार्गकी अश्रेयस्करता—अब कोई देश कालको जानने वाला साधु पुरुष यह सोचे कि छोटी उम्र ही तो है, कितना ही मैंने श्रम कर डाला है, रोगोंने मुझे घेर लिया है, तो आहार विहार तो आगममें बताया है, उसमें भी मामूली दोष लगा ही करते हैं। वे तो छोटे ही दोष हैं इसलिए वे स्वच्छंद होकर अपनी इच्छासे आहारादिमें प्रवृत्ति कर यदि शिथिल आचरण कर लेते हैं, संयमकी विराधना कर लेते हैं, असंयम आदि में समाप्त हो जाते हैं तो उस समय भी तपका अवकाश न रहा, सो जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसा महान लेप हो जायगा। उत्सर्गकी हठ करने वाला तो मर करके परभवमें महा दोषी बन जायगा और अपवादकी हठ करके शिथिलाचारी बन कर तो वह इस ही भवमें महान दोषी बन ही जाता है। तो उत्सर्गसे निरपेक्ष होकर भी अपवामार्गमें लगना श्रेयस्कर नहीं है। कर्तव्य तो साधुका यह है ही कि वह दुर्धर बड़े अनुष्ठान तप संयम आदिमें लगे व कदाचित् यथावश्यक आहार विहारादि भी करे।

अपवादमार्गमें करणीय सावधानी—भैया! प्रासुक आहारादिके प्रयोगमें थोड़े दोष तो होते ही हैं। अगर दोष न होते तो फिर कायोत्सर्ग करनेकी

क्या जरूरत है। खूब जमीन देख कर मल मूत्र क्षेपण कर आवे, बड़े विवेक पूर्वक उस कार्यको कर चुके और कोई दोप भी न दिखता हो तो भी कायोत्सर्ग किया जाता है। कही यात्राको चले, बड़ी अच्छी ईर्यासमितिपूर्वक चले और रास्तेमें जैसा करना चाहिए वैसा ही आचरण किया, धूपमें जा रहे और बड़ी घनी छाया रास्तेमें मिलती है तो धूपमें ही खड़े होकर पीछीसे शरीरको पोंछ लेना पड़ता है, तब छायामें जाना चाहिये। धूपमें मौज मानने वाले कीटाणु यदि छायामें पहुँच जायेगे तो उनको वाधा होगी। सो जब धूपसे छाया में प्रवेश करते तो पीछेसे शरीरको पोंछ लेते और जब छायासे धूपमें जाते तो अन्तिम छायामें शरीरको पोंछ लेते हैं क्योकि छायामें मौज करने वाले कीटाणु यदि धूपमें आवेंगे तो उन्हें वाधा होगी। ऐसी-ऐसी विधियोंसे समितिपूर्वक वह यात्रा कर चुके, अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाये तो भी यात्राके दोषका प्रायश्चित्त लि-ा जाता हैं।

इसी प्रकार बड़ी समिति पूर्वक निर्दोष आहार ग्रहण किया फिर भी आहारके बाद प्रायश्चित्तमें कार्योत्सर्ग करते हैं। दोष न होता तो प्रायश्चित्त करनेकी क्या जरूरत थी। तो प्रासुक आहारादि ग्रहण करनेमें भी कुछ न कुछ दोष होता है, ऐसा जानकर यदि आहार न करे और आर्त ध्यानके परिणामसे, संक्लेश भावोंसे शरीरका त्याग करता है तो चूंकि पहिले बहुत पुण्य किया था, व्रत, संयम, साधना किया था उस पुण्यके फलमें वह देव लोकमें उत्पन्न होगा। वहाँ संयम ही नहीं है, सो अब मरे बड़े दोषसे। पहिले तो छोटे दोपसे घबड़ाते थे, अब सागरों पर्यन्त विषयकपायोंमें पचें मरें, यह स्थिति आ गई। इस कारण साधु पुरुप मध्यम पदवियों में अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गकी हठ नहीं करते हैं।

अल्पलेपके एवजमें महती साधना—यद्यपि आहारमें अल्प दोप है, दोष है तो भी लाभ बहुत है। सो उसें परम्परया निमित्तरूपमें शुद्धात्मत्वसाधनामें साधक जान कर वह अपवादसापेक्ष उत्सर्गको स्वीकार करता है। जैसे आप अपने घरके नौकरको वेतन देकर अपना काम सम्हाल लेते हैं, इसी प्रकार यह शरीर नौकरकी तरह है। एक दिन इसको भोजन दे दिया तो साधुने इस शरीरपर बहुत अधिक अनुग्रह किया। इस अनुग्रहके करनेमें साधुने आन्तरिक कष्ट किया, भोजन देनेमें कल्पनाएँ लादी थी, बड़ा कष्ट उठाया अब इससे अपना काम तो लें ऐसा सोच कर तप, ध्यान, संयमकी साधनामें इस शरीरको साधु झोंक देते हैं। वह अपवादसापेक्ष उत्सर्गको स्वीकार करता है। थोड़ा शरीरको खिला पिला कर काम कस कर लेते हैं साधु

महाराज। इसी प्रकार औषधि पथ्य देनेके दोषके भयसे रोगमें व्यथाका प्रतिकार न करे, और शुद्ध आत्माकी भावना न करे तो महादोष लगता है। सो भैया! त्यागमार्ग में बड़े विवेककी जरूरत है।

सर्वत्र हितदृष्टिका विवेक—गुरूजीमें एक यह भी बड़ी तारीफके लायक बात थी कि वे शरीरकी उपेक्षा नहीं करते थे, ढंगसे भोजन करते थे। इससे लोग देख कर चाहे यह कहें कि ये तो भोजनमें विशेष प्रवृत्ति करते हैं, कहें तो कहें, पर वे उसकी अपेक्षा नहीं करते थे, वे जानते थे कि यदि शरीर कायम रहेगा तो बड़ा काम कर सकते हैं; हाँ, शरीर यदि निष्प्रतिकार हो गया तो बिल्कुल त्याग कर दो। यहाँ यह बात कही जारही है कि उत्सर्ग करनेमें हठ न करो। भोजनादि करनेमें भी शिथिलाचारी न होओ। अगर कोई रोगके प्रतिकारमें लग गये और औषधि मिली कोई मीठी, मानो शक्करकी चासनीके साथ अथवा रबड़ीके साथ, मलाईके साथ दवा दें तो वहाँ जो अनुपान है वह मधुर है, सो वहाँ मधुराईकी रुचि कर लें, संयमकी विराधना करदें तो बड़ा दोष होता है।

कर्तव्यमार्गकी गली—यह कर्तव्यमार्गकी गली बड़ी सकरी है। इस ओर मुड़े तो कुवा और इस ओर मुड़े तो खाई। अगर उत्सर्गकी हठ करोगे तो वहाँ भी संयमकी विराधना है और अपवादमार्गसे शिथिलतामें लग गये तो वहाँ भी संयमकी विराधना है। अच्छा भोजन करनेके मायने यह नहीं है कि गरिष्ट वस्तु खा लें, पर जो शरीरको स्वस्थ रखे ऐसा भोजन तो विवेकी करते हैं ना? उनके हठ नहीं है कि हम उपवासमें ही अपनी जिन्दगी बितायेंगे, यह अज्ञान है। कोई साधु हो जाय और कहे कि बस हम तो बाहुबलि महाराजकी तरह आहार विहारका त्याग करते हैं रोज कौन आहार करने उठे, सो अभी तो ४ आदमियोंकी प्रशंसा और मौजमें सब कुछ कहेगा पर सब खुद पर ही तो बीतेगा संक्लेश मरण तो खुदका ही होगा। सो विवेकी पुरुष उत्सर्गसापेक्ष अपवादका त्याग नहीं करते व शुद्ध आत्माके भावनारूप संयमकी विराधना नहीं करते हैं।

आचरणमें स्याद्वादका उपयोग—औषधादिक आहारादिक ग्रहण करने के निमित्तसे जो थोड़ा बहुत दोष लगता है, उसको यों देखे कि थोड़ा दोष तो है मगर इससे बहुत गुण मिलेगा, ऐसा समझ कर उत्सर्गसापेक्ष अपवाद को साधु स्वीकार करता है। यह जानलो ना कि उत्सर्ग और अपवादमें यदि विरोध रखा जाय, हठ किया जाय तो उससे बुरी स्थिति होती है। तो विरोध का हठ त्यागने योग्य है और कल्याणके लिए स्याद्वादका सहारा लेने

योग्य है। कथंचित् उत्सर्ग मार्गमें यहाँ भी लगो और अपवादमार्गमें भी लगो। स्याद्वादका अनुगमन करना चाहिए।

गृहस्थका आवश्यक अपवाद व उत्सर्ग—अच्छा देखो गृहस्थावस्थामें बाल बच्चोंकी खबर लेना, परिवारमें प्रीति रखना, उनसे प्रेम व्यवहार रखना यह भी आवश्यक होता है कि नहीं? और सबकी खबर छोड़कर बाल बच्चोंका दूकानका, पैसे का वैभवका, सबका विकल्प छोड़कर केवल प्रभुके स्वरूप के गुणगानमें भी और अपने आत्माकी चर्या ध्यानमें भी एक डेढ़ घंटेका समय लगाना यह भी गृहस्थीमें आवश्यक है कि नहीं? दोनों आवश्यक हैं। तो यहाँ दृष्टान्तमें गृहस्थके उत्सर्ग मानलो अच्छी विधिपूर्वक धर्म करना और अपवाद मानलो बच्चोंको खिलाना, पिलाना, परिवारकी रक्षा करना आदि।

उत्सर्गके हठसे गृहस्थकी हानि—कोई गृहस्थ यदि ऐसा अड़ जाय अजी! स्त्री तो नर्कका द्वार है, पुत्र तो निगोदका घर है और वैभव तिर्यंचगतिमें भेजने का कारण है सो हम प्रभुके ध्यानमें ही रहेंगे, विकल्प किसीका न करेंगे। अव्वल तो ऐसा कर ही कोई नहीं सकता है, पर कभी ऐसी कुमति आ जाय कि रहते हैं घरमें और हठ करें कि मैं साधु हूँ तो गृहस्थीका मार्ग भ्रष्ट हो जायगा। कर तो रहे हैं बाह्य बातें और लड़केको गाली दें, स्त्री को बुरा कहें कि तुमसे ही जन्म मरण बढ़ता है, तुम सब बैरी हो, झुंझला जाय व घरमें बना रहे, अपने सब काम भी करता रहे तो क्या गृहस्थधर्म निभ जायगा? नहीं।

अपवादके हठसे गृहस्थकी हानि—कोई गृहस्थ यह सोचे कि हम तो गृहस्थ हैं, खूब कमायें, धनमें ही चिपके रहें, मोहके रंगमें ही रँगे रहें तो क्या गृहस्थी निभ जायगी? नहीं। जो केवल परिवारके व्यामोहमें ही रत रहे उसकी गृहस्थी नहीं निभ सकती है। जैसे मिठाई परोसी जाय आप को, भरपेट मिठाई ही खानेको दिया जाय तो न खाई जा सकेगी। दाल रोटी खाकर जैसे संतोषसे उठते हैं वैसे मिठाई खाकर संतोषसे न उठेंगे यही चाह रहेगी कि दो रोटियां तो परोस दें। और सूखी ही सूखी रोटी खिलाएँ तो उससे भी मनमें ऊब आयगी और इच्छा होगी कि थोड़ा सा घी होना चाहिए। इसी तरह आप केवल परिवारके व्यामोहमें, धनकी कमाईमें ही रहें तो आपका काम न चलेगा। संतोष न मिलेगा, शांति न मिलेगी। दिमाग फेल हो जायगा और बेकार हो जायगा।

उत्सर्ग व अपवादकी मैत्रीसे वर्तकर भी अन्तिम मार्ग उत्सर्ग—जैसे दोनों ओरकी बातें गृहस्थ करता है ऐसे ही साधुजन भी अपने पदके अनुकूल

उत्सर्ग और अपवाद मार्गका ध्यान रखते हैं। यहाँ आचार्य देव शिक्षाकी बात कह रहे हैं कि ऐसा आचरण साधुजन करें जिस आचरणको बुजुर्ग पुरुषोंने बड़े आदरके साथ किया था। उत्सर्ग मार्गमें भी और अपवाद मार्ग से भी विचरते हुए अपनी भूमिकाओंमें जैसे वे बुजुर्ग लोग बढ़ते चले गये थे ऐसा आचरण करो और क्रमसे उन छोटी बातोंको अपवादकी बातोंको त्यागकर आक्रमण करके और अनुपम निवृत्ति मार्गको करते हुए साधुजनो सर्व प्रकारसे मन, वचन, कायको सम्हाल कर चैतन्य सामान्य और विशेषका अवभासन करने वाला जो निज आत्मद्रव्य है उस आत्मद्रव्यमें अपनी स्थिति बनाओ।

साधककी मूल लक्ष्यकी दृष्टि—जैसे गृहस्थ व्यापारी सब कुछ काम करके भी अपने मूल लक्ष्यपर याने आयके हिसाबपर रहा करते हैं। इसमें हमारा यह बचता है, हाँ इस कामको यों करलें.धन वैभवके आयके लक्ष्यसे च्युत नहीं होता है इसी प्रकार साधु पुरुष धार्मिक समारोहमें हो, किसीसे बातचीत करनेमें हो, आहार विहारमें हो तो भी मुझे आत्मद्रव्यमें स्थिर रहना है शुद्ध उपयोगरूप प्रवृत्ति करना है ऐसा आशय रखकर अपने प्रधान लक्ष्यको नहीं छोड़ता है। हे साधुजनों, विधिपूर्वक निपटलो जैसा निपटते बने आहारमें, विहारमें अपवादमार्गमें चललो और ऐसे ही जितना चलते बने उतना अपने उत्सर्गमार्गमें, आत्मध्यानमें चल लो। इस तरह अपनी विशुद्ध प्रवृत्ति रखो और अपने मूल लक्ष्यको न भूलो। पतंग खेलने वालोंके हाथमें डोर रहती है, सो पतंग चाहे १०० हाथ भी दूर हो तो भी पतंग उसके हाथमें है। उसके हाथसे पतंग कहीं नहीं गई। इसी प्रकार अपनी मूल दृष्टि अपने पास हो और परिस्थितियोंवश किसी काममें लगना भी पड़ रहा हो तो कहीं नहीं गया आत्मकल्याण। आत्मकल्याण हमारे हाथ है।

भैया! गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, मनुष्य तो समान हैं। जीव तो समान हैं। सुखका जो उपाय है वह भी एक ही प्रकारका है। यह नहीं है कि गृहस्थ जीवोंकी शांतिका उपाय भोग विषय होगा और साधुकी शांतिका उपाय आत्मध्यान होगा, ज्ञान होगा। जैसे चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो उनका जन्म एक ही प्रकारका है। ऐसा तो नहीं है कि मुशलमान कहीं से भी पैदा होगा हिन्दू और कहीं से पैदा होगा और ईशाई और किसी विधिसे पैदा होगा। तथा मरणकी विधि भी एक ही है। ऐसा नहीं है कि मुशलमानका मरण और किस्मका हो, ईशाईका मरण दूसरे किस्म का हो और हिन्दुवोंका मरण दूसरे किस्मका हो। यह बात नहीं है कि

जन्म मरण और और किस्मका हो। योंही सुख दुःख भोग आदि भी एक ही किस्मके हैं। खाने पीनेमें जैसे हिन्दू मौज मानते है वैसेही मुश्लिम और ईशाई भी मौज मानते हैं। इसी तरह जितने भी जीव हैं उन सब जीवोंकी शान्ति और अशान्तिका प्रकार एक है। चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो। जिसकी दृष्टि अपने शुद्ध एकत्वपर होगी उसको तो शांति है और जिसकी दृष्टि भ्रम करके वाहरी पदार्थोंमें विचरेगी उसको अशांति है। सो भैया सभी अपने अपने योग्य उत्सर्ग व अपवादकी अपेक्षा रख कर आचरणको करो।

आचरणके विषयको वाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकारसे वर्णन करके यह बतलाया है कि श्रामण्य कहो या मोक्षमार्ग कहो या एकाग्रता कहो एक ही बात है। ध्यानका आना वीतराग ज्ञानमात्र आत्माकी ओर ही रहना इसीका नाम श्रामण्य है। उस श्रामण्यके सम्वन्धमे आचरणकी मुख्यतासे जो वर्णन किया है उसका मूल साधन तो आगम ज्ञान है। सो अब सर्वप्रथम अगाम ज्ञानमें ही व्यापार कराते हैं—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

शान्तिलाभका उपाय आगमज्ञान—श्रमण कब वनता है? जब शुद्ध आत्माके तत्त्वमें एकाग्रता भी प्राप्त हो। एकाग्रता किसके बनती है? जिसने पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय कर लिया है। पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय किससे होता है? वह आगमसे ही होता है इसलिए आगमज्ञानमें व्यापार करना ही प्रधान कर्तव्य है, और दूसरी कोइ हितगति नहीं है। जिसे शांति चाहिए, समता चाहिए, श्रामण्य चाहिए उसका कर्तव्य है कि आगममें प्रधानतया अपना व्यापार करे, क्योंकि आगमके विना पदार्थोंका निश्चय किया नहीं जा सकता है। हम आप सवने जो इतना ज्ञान पाया है वह सव आगम की ही तो देन है। आगमके आधार विना वस्तुका स्वरूप कैसे जाना जा सकता है। जिनवाणीको स्तुतिमें स्पष्ट कहते हैं कि "श्री जिनकी धुनि दीप शिखासम जो नहीं होत प्रकाशनहारी। तो किस भाँति पदारथपाँति कहाँ लहते रहते अविचारी" यदि दीपशिखा समान यह जिनवाणीका प्रकाश न मिलता तो ये जगतके हम सब जीव पदार्थोंका स्वरूप कैसे पाते? शांति कुटुम्ब परिवारसे नहीं मिलती है। शांति तो आत्मज्ञानसे मिलती है और आत्मज्ञानका साधक है आगम जिनवाणी, जिनेन्द्र देवकी उपदेश परम्परासे चले आये हुए ग्रन्थोंका स्वाध्याय।

कष्टोंसे मुक्त होनेका मूल उपाय आगमज्ञान—कोई कहे कि आजकल

बड़े कष्ट हैं। क्या करें ? उत्तर दो कि आगम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करने बैठ जायें। चित्त बड़ा डावाँडोल है क्या करें ? आगमका अभ्यास करने बैठ जावो। सर्व संकटोंको दूर करनेका उपाय है आगमज्ञान। साधु पुरुषोंका तो एक ही कार्य है कि आगमका वे ज्ञान बढ़ावें। जो भगवंत प्रणीत आगम का अभ्यास करते हैं वे सब पदार्थोंके ज्ञाता हो जाते हैं। देखो तत्कालवर्ती व भूत भविष्यत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित द्रव्य, गुण पर्याय स्वरूप जो समस्त पदार्थोंका समूह है उसका वास्तविक ज्ञान एक इस आगमसे ही होता है। हम किसका आभार मानें ? लोगोंने माता पिताको बड़ा माना है और उनका वे आभार समझते हैं। किन्तु, आत्माके नाते देखो यह तो जन्म मरण करता हुआ चला आरहा है। माता पिताने एक मुझ जीवपर दया करके मुझे उत्पन्न नहीं किया। उनकी तो प्रवृत्ति थी। जीव यों ही जन्मते रहते हैं। मात्र उनका निमित्त पाकर हम आप मनुष्य हुए।

परम उपकारी देव शास्त्र गुरु—भैया ! परम उपकारी तो यह देव शास्त्र गुरु है। जो सदाके लिए मेरे संकटोंको दूर कर देता है। बहुत बड़े पुण्यकी बात है और सुगमताकी बात है कि देव शास्त्र गुरुका प्रसाद अपनेपर बना हुआ है। भगवंत सर्वज्ञ देव निरपेक्ष उपकारी है, निरपेक्ष बंधु है, जिनकी निष्काम चेष्टासे जगतके जीवोंका कल्याण हुआ है। इस परमागमकी महिमाको कौन बता सके जिसने संसारमें हमारे रुलनेका कारण स्पष्ट बताया। जीव और कर्मका कैसा सम्बन्ध है निमित्तनैमित्तिकरूप विशिष्ट सम्बन्ध होनेपर भी जीवका अस्तित्व जीवमें है और कर्म पुद्गलका अस्तित्व कर्ममें है। कोई किसीके स्वरूपमें मिल नहीं गया है। पर पदार्थ स्वभावतः परिणमते रहते हैं अर्थात् अपने आपमें अपनी अवस्थाको उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसे यथार्थ ज्ञानसे ही मोहसंकट दूर होता है।

आगमकी उपकारिता—सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। कोई किसी अन्यकी सत्ताके आधीन नहीं है। मेरे विकारमें कर्मोंका उदय निमित्त है और उन कर्मोंमें कब-कब कैसा-कैसा अनुभाग हुआ है, वे बन्धते हैं तो किस प्रकार बन्धते हैं। वे अपने गुणहानियोंके हिसाबसे स्वतः बँधते रहते हैं। उदय भी कैसे आता है ? निर्जरा होती है तो किस किस हिसाबसे होती है। इन सबका यथार्थ विवरण व एक-एक समयके परिणमनका वर्णन जिन आगम ग्रन्थोंमें किया है तीन लोककी रचनावोंका विशद विवेचन मय नापके जिसमें किया गया है ऐसा यह आगम हमारा परम उपकारी है। जो मोह ममतासे अलग हटा दे ऐसा साधन ही हमार परम उपकारी है।

लोकसमागमकी अनर्थकारिता—जो राग और द्वेषोंमें लगादे वह साधन मेरा वैरी है। ये जगतके समागम जिनमें गप्पें करनेमें बड़ा मन लगता है ऐसी गोष्ठी ये सब हमारे अंधेरे है। मार्ग इनमें नहीं सूझ सकता। एक आगम ही ऐसा प्रकाश है कि जिस प्रकाशमें स्वरक्षा रह सकती है स्वरक्षा अर्थनिश्चयसे होती है तथा अर्थनिश्चय आगमसे ही होता है। अर्थनिश्चयके बिना शुद्धज्ञान नहीं होता, शुद्धज्ञानके बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं हो सकती, मुझको अन्य कोई पुरुष सुख देने वाला है अथवा दुःख देने वाला है ऐसी मिथ्या कल्पनायें जबतक रहती हैं तब तक इस जीवका चित्त चलायमान रहता है। वह एक विषयमें स्थित नहीं रह सकता। जिसने पदार्थोंके स्वरूप का निश्चय नहीं किया सो आकुलित होकर वही कभी तो कुछ किया करता है और कभी कुछ तथा जब करनेका कुछ ढंग नहीं मिलता तब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर आकुलितचित्त हो जाता है और चारों तरफ डोलता रहता है।

चिकीर्षाज्वर एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता—कभी इसे चंचलताके कारण चिकीर्षाका ज्वर लग बैठता है, मुझे यह करना है, मुझे यह करना है सो करनेकी इच्छाके ज्वरसे परवश हो जाता है। अतः विश्वका स्वरूप रचने की इच्छासे सब जगतमें अपना विकल्प व्यापार अपनेमें किया करता है और भ्रमसे बाह्यदृष्टि बनाकर दुःखी होता रहता है। जिसे वस्तुकी स्वतंत्रताका निश्चय नहीं होता उसे कर्तव्य विमूढ होकर आकुलित होना पड़ता है तथा उसे शान्तिका मार्ग नहीं सूझता है, क्योंकि उसे यह तो विदित ही नहीं है कि यह मैं तो केवल अपने गुणका परिणमन करता हूं। मैं अपनी परिणति से अतिरिक्त अन्य कुछ करनेमें समर्थ नहीं हूं। उसे यह प्रतीति नहीं है सो बहुत अटपट जो चाहे इसके अपनेकी इच्छा बनी रहती है। तो बहुत पर पदार्थोंके व्यापारमें लगा रहता है और भोगनेकी इच्छाके परिणामसे मलिन होकर सर्व विश्वको भोगना चाहता है। सो भोक्ताके रूपसे सर्व विश्वको ग्रहण करके वह द्वैतमें पड़ जाता है उसके रागद्वेष होना अनिवार्य होगया। जो लोकका कर्ता होना चाहता है, भोक्ता होना चाहता है, शरीरका आराम और सुखियापन चाहता है उसके रागद्वेष जरूर आयेंगे।

खाली उपयोग शैतानका घर—भैया! जब हमारा उपयोग शुद्ध ज्ञानमें नहीं ठहरता आत्मतत्त्वमें नहीं रहता तब तक इसमें अनेकों अटपट बातें आयेंगी। रागद्वेषोंसे चित्तवृत्ति कलुषित हो जायगी। फिर वह इन पदार्थोंमें जो कि सब एक स्वरूप हैं उनमे विभाग बनाया करता है कि यह इष्ट है और यह अनिष्ट है। भला बतलाओ कौनसा पदार्थ इष्ट है और कौनसा पदार्थ अनिष्ट

है। पड़ोसके रईसकी बड़ी हवेली चूँकि सुहाती नहीं है, उससे ईर्ष्या है सो इतना सुन्दर मकान अनिष्ट हो गया और खुद की कच्ची, टूटी झोपड़ी चूँकि वह सुहाती है, अपनी है सो वह इष्ट बन गई। कौनसा पदार्थ इष्ट है और कौनसा पदार्थ अनिष्ट है ? कपाई जारहा है शिकारी जारहा है और साधुके दर्शन हो गये तो उसे साधु अनिष्ट लगने लगता है और उस जैसा ही और शिकारी मिलगया तो इष्ट हो गया, मित्र हो गया। है कौन जगतमें इष्ट और अनिष्ट ? सब अपने कषायमे द्वैत विभाग कर डालते हैं सो जैसा चाहे पदार्थोंकी आत्मीयता कल्पनामें परिणत हो जाती है। यह मेरा भैया है, यह मेरी बहिन है, यह स्त्री है, यह बुआ है, यह मौसी है, जो थोड़ा रुचिकर हुआ वह परम मित्र हुआ। जैसा चाहते पर पदार्थोंमें अत्मीयता के लिए तैयारी बना रहे हैं और जो स्वयं की यह आत्मा है उसको भूल रहे हैं।

विषयासक्तिकी ओट—देखो भैया ! इन मोही जीवोंने अपनी आत्माको सौंप दिया है इन मोही मलिन ससारी जीवोंको इसलिए शिथिल हो गये ये बहिर्मुख हो गये ये जो परको अपना आप मानते हैं। ऐसे पुरुप चूँकि पदार्थोंके स्वरूपका उन्हें निश्चय नहीं है सो निज भगवंत आत्माको तो देख ही नहीं सकते हैं परमें दृष्टि लगी है। भोजनमें स्वाव आता है ऐसी प्रतीति वाले पुरुप जब भोजन करते है तो वे इतनी लपलप वृत्तिसे करते हैं कि वे अपनेको भूल जाते हैं, अपनेका पता ही नहीं रहता हैं। यो परमें जिसकी आत्मीयताकी बुद्धि हुई वह परकी ओर इतना झुक जाता है कि आत्माका उसे पता ही नहीं पड़ता। कैसा है यह भगवान आत्मा ? निष्क्रिय है और निर्भोग है न तो यह किसी पदार्थको कुछ करता है और न भोगता है। आकाशकी तरह निर्लेप और अमूर्त इस आत्मामें तो किसीका कुछ सम्वन्ध ही नहीं है। किन्तु विषयासक्तिकी ओटमें इस अज्ञानी जीवने अपने परमात्मतत्वको ढक दिया है और प्रभूकृपा विना परका भिखारी बनकर दर दर ठोकर खाता फिरता है।

आत्माके ज्ञानका ही कर्तृत्व व भोक्तृत्व—यह अपने ज्ञानका ही कर्ता है और ज्ञानका ही भोक्ता है। यह मैं आत्मा निष्क्रिय हूँ और निर्भोग हूँ। इसने एक साथ ही सर्व विश्वको पीलिया है अर्थात् लोक अलोक सब इसके अन्दर व्याप्त हो चुका है, फिर भी यह किसी परिमाणुरूप भी नहीं बना। ऐसा निराला है यह आत्मा। धन्य है इसके जाननस्वरूपको। इस जाननके चमत्कारको जो समझता है वह ज्ञानी इस जाननके आनन्दमें मग्न रहता है। बाहरमें कहीं आनन्दके लिए खोजकी इच्छा उसके नहीं होती। ऐसे भगवान

आत्माको वह अज्ञानी नहीं देखता सो उसके निरन्तर व्यग्रता ही रहती है।

अन्धता व उपद्रवका मूल परमें आत्मबुद्धि—इस भगवान निज आत्माको कौन नहीं देखता है ? जो पर पदार्थोंमें आत्मीयताकी प्रतीति करता है वह इस निज आत्माको नहीं देखता है। अरे जिसमें मैं मानेगा उसको ही तो देखेगा, अनुभवेगा, भोगेगा। जिसे अपना मानेगा उसकी ही ओर तो झुकेगा। जिसने वाह्य पदर्थोंको अपना माना है, वह अपने आपको कहाँसे देखेगा ? इसने वाहरी पदार्थोंको ही अपना मान लिया। इसकी वाह्यमें ही इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि होगयी। यह मेरा इष्ट है यह मेरा अनिष्ट है। यह बुद्धि क्यों गयी ? इसके चित्तमें राग और द्वेप आगये ; क्योंकि इसने इस विश्वको भोगनेके योग्य मान रखा है। जो पर पदार्थोंको भोगनेके योग्य मानेगा उसको रागद्वेप जरूर होंगे। जो भोग्य पदार्थोंके साधक हो गये उनमें राग हो गया और जो वाधक होगये उनसे द्वेष हो गया और इस विश्वको अपने द्वारा करने योग्य मान लिया है। पर पदार्थोंको करनेकी इच्छा और भोगनेकी इच्छा होनेसे ये सारे उपद्रव आ गये।

चिकीर्षा. बुभुक्षादि अनर्थोंका मूल आगमज्ञानका अभाव—इन जीवों के करनेकी ओर भोगनेकी इच्छा क्यों हो गई ? उत्तर है—कि इनके वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ अपना अपना स्वतंत्र-स्वतंत्र स्वरूप रखते हैं और वे मात्र अपने अपनेमें ही परिणम सकते है। किसी दूसरेका कोई अन्य पदार्थ कुछ नहीं कर सकता है व न अनुभव कर सकता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूपका ज्ञान न होनेसे ये सारे उपद्रव हो गये। इसको वस्तुस्वरूपका ज्ञान क्यों नहीं है ? उत्तर है कि इन्होंने आगमका ज्ञान नहीं किया, आगमका अभ्यास नहीं किया। तो जितने संकट हैं, उपसर्ग हैं, उपद्रव हैं उन सबका मूल कारण हो गया आगमज्ञानका अभाव।

आगमाभ्यासकी उत्कृष्टता—साधुजनोंको श्रीकुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं कि सबसे जेठी चीज आगमज्ञान है। जेठी के माइने श्रेष्ठ, प्रधान, करने योग्य है। जिसपर सब दारोमदार है, उसे कहते हैं जेठा। आगमकी चेष्टा ही सबसे जेठी वात है। जिस घरमें जो सबसे वड़ा है, जेठा है उस पर ही सब भार है, उसपर ही सव कुछ निर्भर है इसी प्रकार मोक्षमार्ग के लिए, हमारे आत्मकल्याणके लिए सब कुछ निर्भरता आगमज्ञानके ऊपर है। सो आगमज्ञान करने वालेके पदार्थोंका स्वरूप ज्ञात रहता है। पदार्थोंका स्वरूप ज्ञात रहनेसे अन्य पदार्थोंके करने और भोगनेकी बुद्धि नहीं होती। करने और भोगनेकी बुद्धि न होनेसे पर पदार्थोंमें राग और द्वेष नहीं होता

है। पदार्थोंमें रागद्वेष न होनेसे इष्ट अनिष्टकी छटनी नहीं की जाती। जब इस भगवान ज्ञानानन्दघन निजात्माका साधन होता है और जब ज्ञान स्वरूप परमानन्दमय इस आत्मतत्त्वका साधन होता है तब व्यग्रता, संकट नहीं रहते। इस कारण कल्याण चाहने वाले पुरुषको आगमके ज्ञानमें प्रधान व्यापार करना चाहिए।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी एकाग्रताके बिना सिद्धिका अभाव—देखिए एकाग्रताके बिना श्रामण्यकी सिद्धि नहीं होती। रागद्वेष न हों, समता परिणाम रहे इस साधनकी सिद्धि आत्माका उपयोग हो तो हो सकती है। आत्मतत्त्वकी एकाग्रताके बिना उसका श्रामण्य नहीं हो सकता। तो जो एकाग्र नहीं है, जिसका शुद्धात्माकी ओर उपयोग नहीं है सो इन सब अनेक चीजोंको देखेगा और ऐसा ही श्रद्धान लिपा पुता करेगा यह सब अनेकोंको जानता रहेगा और इन अनेकरूप जालोंमें अपनी अनुभूतिको करता रहेगा। मैं साधू हूँ, ये श्रावक लोग हैं, ये नमस्कार भी नहीं करते। इन्होंने ठीक आहार देना नहीं चाहा यों दसों तरहकी आधियाँ उत्पन्न कर लेगा। मुझे अब यह करना है अब पाठ करना है, अब यह जानना है, अब अमुक चीज देखना है, अमुक काम करना है, मैं साधु हूँ, मुझे यों पेश आना चाहिए, यों बोलना चाहिए अपनेको नानारूप तक रहे हैं। अरे कल्याणार्थी पुरुष जिन बातोंमें दिमाग लगा रहे हैं वे सब बातें तो तेरे सहज हो जाना चाहिए थी। दिमाग लगानेकी चीज उपयोग देनेका विषय तो तेरा निर्लेप शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही है।

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी अनुभूतिके बिना उन्मत्तचेष्टाकी संभूति—मैं अकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दघन चैतन्य पदार्थ हूँ। मैं श्रमण नहीं मैं साधु नहीं, मैं परिवारवाला नहीं, मैं धनवाला नहीं, मैं पंडित नहीं, मैं मूर्ख नहीं मैं शरीर वाला नहीं, मैं गोरा काला नहीं। मैं तो एक ज्ञानज्योतिर्मात्र चैतन्य स्वरूप हूँ, इस मेरे का कोई नाम नहीं। नाम रख लिया लोगोंने। और यह नाम रखवाता है मोहमें। मेरा कोई नाम नहीं है। यह मैं नामरहित हूँ। मैं तो कर्मोंके उपद्रवसे दुखी हूँ,। मुझे तो इन झंझटोंसे निकलनेका काम पड़ा है। मेरा लोकमें कुछ काम नहीं। ऐसी अनुभूति अज्ञानी पुरुषोंको नहीं होती सो अपनेको नानारूप अनुभव किया करते हैं। इसलिए पर पदार्थोंमें वे आत्मीयता मानकर लगते हैं। और, कदाचित् वह कुछ लौटता भी है तो जैसे घरके लोग अपने बच्चोंकी चेष्टासे हैरान होकर कुछ दिल हटाते हैं और फिर दिल लगाते हैं, फिर गुस्सा हो जाते हैं, फिर प्रेम करने लगते हैं,

ऐसा बावलापन गृहस्थके हुआ करता है इसी तरहका बावलापन उन साधुवों के भी होता है जिसने अर्थका निश्चय नहीं किया। फिर क्या होती है उनकी स्थिति, इसके आगे फिर कल कहेंगे।

अर्थनिश्चय बिना दर दर भटकन—जो पुरुष आगमका अभ्यास किए हुए नहीं है उसको पदार्थके स्वरूपका निश्चय नहीं होता। जिसको पदार्थके स्वरूपका निश्चय नहीं है उसको अपने आपके गुणोंमें स्वभावमें एकाग्रता नहीं हो सकती। जिसके आत्मस्वभावमें एकाग्रता नहीं होती वह श्रमण काहेका? उसने साधना किसकी की। वह तो अपनेको नाना रूप समझता रहेगा अपनेको एकरूप समझे तो अपनेमें एकाग्रता भी हो। जब अपनेको नानारूप समझा तो किस जगह टिके? थोड़ा-थोड़ा अनेक जगह टिकता रुकता चलता चला जायगा, तब वृत्ति खोटी हो जायगी, दयनीय हो जायगी फुटवालकी तरह यहाँ वहाँ दौड़ने लगेगा। भैया, फुटवाल किस काम आता है? देखो ना, उसका काम यही है कि यहाँसे वहाँ भगना। फुटवालको ठोकरें मारनेके आश्रय अनेक हैं। इसी तरह इस उपयोगको भक्तिके आश्रय अनेक मिलते हैं। इन बाहरी अनेक पदार्थोंकी बात नहीं कह रहे किन्तु अपने आपको जो नानारूप मानलें, मैं साधु हूँ मैं श्रावक हूँ, ज्ञानी हूँ पंडित हूँ, धनी हूँ, मूर्ख हूँ, इज्जत वाला हूँ, पोजीशन वाला हूँ, सबमें प्रधान हूँ, जुम्मेदार हूँ, नानारूप जो अपनेको अनुभव कर लेता है बस, ऐसी ही ठोकरें खानेका नाम आश्रय पाना व छोड़ना है।

ज्ञानतत्त्वकी एकाग्रता बिना श्रामण्यका अभाव—भैया, अपना एकत्व समझ में आये तो एकाग्रता हो सकती है। जब अपनेको नाना माने तब एक आत्मा की प्रतीति अनुभूति और वृत्तिरूप जो रत्नत्रय प्रवृत्ति है वह तो नहीं हो सकती। आत्मा एकस्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। और विशेपदृष्टिमें चलो तो ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञान जब यथार्थ श्रद्धानके रूपसे चलता है तो सम्यग्दर्शन होता है। यह ज्ञान यथार्थ जाननके रूपसे चलता है तो सम्यग्ज्ञान होता है। यह ज्ञान अपने ज्ञानरूपमें ही स्थिर होकर रहता है तो सम्यक्चारित्र होता है। रागादिकके त्यागके स्वभावरूप यह ज्ञान स्वयं है, ज्ञान, ज्ञानरूपसे चलता रहे तो रागादिका त्याग स्वयं ही होगा। यह है सम्यक्चारित्र। इन तीनों प्रकारमें तन्यय जो आत्मतत्त्व है उसकी एकाग्रता नहीं हो सकती, तो फिर श्रामण्य ही क्या रहा? साधुत्व ही क्या रहा।

आत्मज्ञान बिना नाटकोंकी भरमार—मोटे रूपसे विचारो। यह गृहस्थ सौदा ले, सौदा दे, तौले, नापे हिसाब लगाये, दूकान बंद कर घर आये,

सोसाइटीमें बैठे; पूजन करे जैसे यह अनेक काम करता है ना ? इसी तरह एक साधुने भी यदि इस ही ढंगमें काम किया, पाठ किया, वंदन किया, लोग आदर कर रहे हैं तारीफ कर रहे हैं, उनके बीचमें मौज माना, अब सामायिक करने बैठ गये दर्शन करने चले गये, ऐसी ऐसी ही बातें रहीं आईं और आत्मतत्त्वकी दृष्टि न हुई तथा उसके प्रभुत्वकी एकाग्रताकी भावना न हुई तो गृहस्थके जैसे दसों फंद लगे हैं तैसे ही साधुके ये फंद लगे हैं। जैसे एकके अङ्क विना विन्दुओंका समूह व्यर्थ है वैसे ही एक निज आत्मरूपके परिचय विना ये सारे श्रम व्यर्थ हो जाते हैं।

व्यवहार धर्मसे सन्मार्गकी आशा—अज्ञानीके धर्मव्यवहारमें केवल इतनी आशा है कि जैसे कंजूसका धन इससमय तो विल्कुल व्यर्थ है और चूँकि धन है और कभी भाव वदल जाय तो वह धनी कहलायेगा याने धनका सदुपयोग कर देगा। इसी प्रकार आत्मदृष्टिहीन साधुके या श्रावकके ये धर्मके सारे काम व्यर्थ हैं, कोई कीमत नहीं, पर इतनी बात है कि इस व्यवहार धर्मके कार्यमें रहते हुए यदि कदाचित् दृष्टि वदल जाय तो फिर साधुको व्यवहारकी आ आ इ ई तो नहीं सारी करना पड़ेगी, उसके आत्मदृष्टिका वाह्य साधन तो है। और, परिणतियाँ तो है किन्तु मूल्य है आत्माके एकत्वके दर्शनका, शुद्ध ज्ञानमात्र जानन स्वभावके अनुभवका। इस कारण मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिए, अथवा श्रामण्यकी सिद्धिके लिए भगवान अरहंत सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत जिसमें अनेकांतकी ध्वजा फहरा रही है ऐसे शव्द ब्रह्ममें निष्णात जरूर होना चाहिए अर्थात् आगमका ज्ञान जरूर होना चाहिए।

आगमचेष्टाका महत्त्व—साधुके जीवनमें सवसे जेठी चर्या है तो आगमका अभ्यास है। सारे काम करें साधुजन, जीवहिंसासे बचें, महाव्रतका पालन करें, दुर्धर तपस्या भी करलें; जिससे हड्डियां भी निकल आयें, खून भी सूख जाये, शरीर क्षीण हो जाय, वड़े वड़े आसन भी करलें,समताका व्यवहार भी रखें, कोई निन्दा करता हो, गालीदेता हो उसपर गुस्सा भी न होता हो, कोई प्रशंसा करता है, पूजा करता है तो स्नेह भी न हो, ये सव चीजें करलें, इतने पर भी यदि आत्माके जाननस्वभावका अनुभव न हो कि मैं सहज कैसा हूँ, ऐसा अनुभव न जगा तो इन सव श्रमोसे भी उसको मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता है तो इन सव उन्नतियोंका मूल उपाय जो आत्मज्ञान है, आगमज्ञान है उसमें ही अधिकाधिक प्रगति करना चाहिए।

सबके रोगोंकी औषधिकी समानता—जो औषधि साधुवोंके रोगकी है वही औषधि श्रावकोंके रोगकी है। साधुवोंके शरीरमें विकार हो जाय तो

जिस दवासे श्रावकका विकार ठीक होता है उसी दवासे साधुका विकार ठीक होगा। ऐसा नहीं है कि श्रावककी और दवायें हो और साधुवों की और कोई विचित्र दवायें हों। यह बात जरूर है कि अपने असंयमवश कोई डाक्टरकी दवा ले और कोई किसीकी। जो श्रावक मरनेकी बात नहीं सह सकता वह धर्ममें अपनी हिम्मत ही क्या करेगा। तो जैसे साधुके शरीर और श्रावकके शरीरकी औषधि एक है इसी तरह साधुके रागकी आंतरिक औषधि जो है वही श्रावकके आंतरिक रागकी औषधि है। क्या ऐसा है कि साधुको आनन्द मिलेगा वैराग्यसे और श्रावकको आनन्द मिलेगा रागसे ? ऐसा कभी नहीं हो सकता है। आनन्द मिलनेकी पद्धति एक वीतरागता है उस पर जो जितना चल सके वह उतनी ही शांतिका अधिकारी है।

कल्याणलाभका मूल उपाय—वीतरागताकी प्राप्तिका, कल्याणलाभका मूल उपाय है तत्त्व ज्ञान। वस्तुस्वरूपका ज्ञान समझना, आगमका मर्म जानना, अपने सहजस्वरूपका परिचय करना, यह है वास्तविक ज्ञान। मोक्षमार्ग प्रकाशमें जहाँ एक जगह प्रश्न किया है कि एक अध्यात्म ग्रन्थ का ही स्वाध्याय कल्याणके लिए करे और बांकी बातोंके जाननेकी क्या आवश्यकता है ? तो उत्तर यह देते हैं कि यदि यह सम्यग्दृष्टि पुरुष है तो अध्यात्म ज्ञानका प्रयोजन तो सम्यग्दर्शन था वह तो तो गया; अब एक अध्यात्म ग्रन्थके रटने की जरूरत क्या रही। अब तो उसे आवश्यकता यह है कि ऐसे ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय अधिक करें कि जिसके उपयोगमें रहने के कारण विषयकषायोंसे सुरक्षा बनी रहे। तब ऐसा विषय करणानुयोग है और फिर अपने आपमें हिम्मत जगानेके लिए प्रथमानुयोगकी चर्चायें हैं।

भक्तिके क्षणकी अनियतता—कब कौन भजन अपने हृदयमें घर कर जाय ? क्या पता है। अभी सुबह की बात है जब ये रतन भैया यह पाठ पढ़ रहे थे; उठि प्रभात प्रभु पूछिय आदि······अच्छे स्वरमें पढ़ रहे थे। वहाँ बैठे-बैठे मेरेमें भक्तिका परिणाम जगा और अपना कागज पेंसिल छोड़कर बैठ गया। उसी रूपसे उसी भक्तिमें दो चार मिनटका समय बिताया। बड़ी प्रसन्नता हुई। शब्द वही हैं जो रोज पढ़ते है। ऐसे तीर्थंकर पैदा हुए, उनकी माताको स्वप्न आरहा है, देवी देवता सेवामें लगे हुए हैं; देखो यह अद्भुत भक्ति अनुराग होरहा है—यह कैसा चमत्कार है ? एक पुरुष संसारके संकटों से मुक्ति प्राप्तकरनेवाला आरहा है, सदाके लिए हम आपसे विदा होनेके लिए आरहा है, उसकी हो तो महिमा है। प्रथमानुयोगके शास्त्रसे अपने आपको मोक्षमार्गमें डालनेका यह उत्साह जगता है। सम्यक्चारित्रके पालनकी

उत्सुकता होती है। भैया बताओ, कौनसा अनुयोग व्यर्थका है। यहाँ यदि सम्यग्दृष्टि है तो उसे अपना उपयोग सही रखनेके लिए और अनुयोग पढ़नेकी ज्यादा आवश्यकता है। जीव जुदा है, पदार्थ जुदा है यह तो जान चुके। अब उसका ही रटना रहा तो आगेकी कोई कार्रवाई न बनेगी। तो सर्व अनुयोगोंके ज्ञानके अभ्यासमें परिणाम विशुद्ध रखना आवश्यक है। और मान लिया कि वह सम्यग्दृष्टि नहीं है तो सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए प्रथम अवस्थामें यह विविध ज्ञान थोड़ा बहुत तो करना ही होगा। तब अध्यात्म शास्त्रकी छाप लगेगी। अन्य सब शास्त्र किसके लिए व्यर्थ हैं सबके लिए चारों के चारों अनुयोग उपयोगी हैं। आगमज्ञान करना कल्याणार्थीका प्रथम कर्तव्य है। आगमहीन साधुके मोक्ष सम्भव नहीं है, कर्मोंका क्षय सम्भव नहीं है। इस वृत्तको अब अगली गाथामें बताया जारहा है—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।

अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किधि भिक्खू ॥२३३॥

आगमज्ञान बिना कर्मक्षपण असंभव—जो आगमहीन श्रमण है वह अपने आत्माको और पर पदार्थोंको नहीं जानता है। और जो आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है वह भिक्षु कर्मोंका कैसे क्षपण कर सकेगा ? आगम देखिए। आगमज्ञान बिना यह मैं हूँ यह परमात्मा है और यह पर आत्मा है" यह ज्ञान नहीं हो सकता ? यह तत्त्वज्ञान किससे प्रणीत है ? जिनेन्द्र देवके द्वारा, जो हमें जानता भी नहीं था इस रागके रूपमें, जिन्होंने हमारा कोई लक्ष्य नहीं रखा था, निरपेक्ष था, ऐसे अरहंत भगवंत जिनेन्द्रका कितना उपकार है कि उनकी परम्परासे आये हुए इन आगमोंके अभ्याससे हम अपने जन्मको सफल कर रहे हैं।

धर्म प्रवृत्तिकी शोभा—सर्वत्र धर्मकी ही महिमा है। देखो लौकिक प्रकरणोंमें भी, विवाह शादी और जन्म आदिक बातोंमें भी यदि धर्म क्रिया का पुट नहीं रहता है तो उसमें मजा और शोभा नहीं रहती है। देखो ना, बरात जा रही है, विवाहका प्रकरण चलरहा है। समयपर मंदिर जा रहे हैं, पूजन हो रहा है। दोनों मिलकर पूजन कररहे हैं। यह धर्मकी बात साथ लग रही है। तो वह कार्य शानसे हो रहा माना जाता है। कोई कहे कि विवाहके मायने यह है कि लड़का लड़की संकल्प करले कि हम तुम्हारे तुम हमारे। और, यही करले, बोलले और कुछ आडम्बर क्यों करें ! सब कुछ समागम जुटाना, नहाना, मंदिर जाना यह क्यों करे ? सो भैया, यदि सीधा ऐसा ही विवाह हो जाय तो उसमें शोभा नहीं रहती है। इन कार्योंमें

कुछ धर्मका भी पुट होता है तो ऐसा लगता है कि कुछ कार्य हुआ और धर्म की पुटके साथ कार्य होनेसे आजीवन निभाव भी सुन्दर होता है।

निर्वाहके लिए अतुल पुरुषार्थ—तो मोक्ष जैसे कार्यके लिए, कर्मक्षयके लिये धार्मिकता कुछ भी न हो और सिद्धि हो जाय यह तो अत्यन्त असम्भव है। आत्मासे कर्मोका सदाके लिये अलग हो जाना बहुत बड़ा कार्य है और इसमें बहुत बड़ा पुरुपार्थ करना होता है। वह पुरुषार्थ क्या है ? निज को निज पर को पर जान। इसकी ही जितनी विशेपता बढ़ती जायगी वही इसका मूल पुरुपार्थ है। जिसे पर और आत्माका ज्ञान नहीं है और परमात्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उसके मोहादिक द्रव्यकर्मोका, और मोहादिक भाव कर्मोका जाननरूप क्रियामें परिवर्तन होनेरूप कर्मोका क्षय नहीं होता है।

वाधक तीन कर्म—यहाँ तीन कर्म वताये हैं। मोहादिक द्रव्यकर्म अर्थात् आत्माके साथ बँधे हुए कार्माण वर्गणायें जो कर्मरूप होकर रह रही हैं वे तो हैं द्रव्यकर्म और अन्तरमें रागद्वेपादि विकल्प संकल्पकी जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे हैं भाव कर्म और तीसरा एक और विचित्र कर्म बताया है। वह क्या कि यह जीव जानता है ना, जानता तो है मगर किसी जाननमें टिक नहीं पाता और जानता हुआ थक जाता है सो उस जाननसे हटकर किसी दूसरे पदार्थके जाननेमें लग जाता है, ऐसे जाननका परिवर्तन करते रहना यह एक और तीसरा कर्म है। यह तीसरी क्रिया रागके निमित से भी होती है और राग न रहे तो भी पूर्व रागप्रयोगके कारण कुछ क्षणों मात्र अनन्तर भी होती है।

ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म—यह जाननका परिवर्तन तो हम आपके रागके कारण होता है। यह जाना और अब दूसरी वस्तुका राग उठ गया सो दूसरेको जाना। रागके कारण हम और आप संसारी जीवोंके जाननके परिवर्तन होते हैं, पर ८ वें ९ वें, १० वे गुणस्थानमें व्यक्त रागके अभावमें भी व ११ वें गुणस्थानमें और कुछ समय तक १२ वें गुणस्थानमें रागके अभावमें भी जाननके परिवर्तन चलरहे हैं। यद्यपि रागोंका उदय १० वें गुण स्थान तक है। सूक्ष्म लोभ भी तो राग है। पर उसका प्रेक्टिकल कोई प्रभाव नहीं वह उदय मात्र है उसका व्यक्त प्रभाव तो ८ वें गुण स्थानमें भी नहीं। फिर भी अव्यक्त रागका व पूर्वरागप्रयोगका ऐसा असर है कि ज्ञप्तिपरिवर्तन हो रहा है। यहाँ जो जाननका परिवर्तन चल रहा है वह भी एक विकासमें वाधक क्रिया है इस प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म इन तीनोंका क्षय उसके तबतक नहीं हो सकता, जब तक परमात्माका

यथार्थ बोध नहीं हो सकता।

आगमहीनोंका विखरा विवेक—जो प्राणी आगमहीन हैं वे अनन्तकालसे चले आए हुए भावोंके धारण करनेकी नदीके प्रवाहमें बहने वाला जो महान् मोह मल है उससे मलिन हैं, गंदे हैं; ऐसे जगतके प्राणी मदिरा पिये पुरुषकी तरह उन्मत्त हैं। ज्ञानहीन पुरुष उन्मत्त हैं, बेहोश हैं। उनका विवेक विखर गया है। विवेक तो है पर विखर गया है। कितना सुन्दर शब्द दिया है उत्कीर्णविवेक। जैसे समझदार पुरुष भी मदिरा पी ले तो उसका विवेक विखर जाता है केन्द्र से ; जैसे घरका ही भला लड़का जो बड़ा धर्मात्मा ज्ञानी, काममें चतुर, विवेककी बात बोलने वाला है और उसे कोई धोखेमें बड़ी तेज भाँग पिलादे कि लो चाय पीलो, ढंडाई है पीलो तो वह विवेकी बालक भी एक आध घंटे बाद अटसट बोलने लगता है। परिचित लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं। जिन्हें कि यह पता नही कि भांग पी लिया है। क्या कह रहा है? यह तो बड़ा बुद्धिमान बालक था। यह क्या कह रहा है? कर क्या रहा है? क्या किया जाय उसका विवेक विखर चुका है। वह पूँजीभूत नहीं है सो विवेकका काम अब नहीं कर पाता।

विचित्र पागल और रोगी जगत्—इसी प्रकार जगतके मलिन मोही प्राणियोका ज्ञान बिखर गया है। स्त्रीसे और माँसे परस्पर झगड़ा हो जाय तो किस बातका झगड़ा है यह जाने बिना भी स्त्रीके पक्षपर उतारू हो जाता है यह क्या मामला है? विवेक बिखर गया है। दिमागका दिवाला निकल गया है। अनन्त कालसे जन्म परम्परामें बहने वाले मोहसे मलिन ये प्राणी मदिरापायीकी तरह उन्मत्त हो रहे हैं। मोही अपने ज्ञानसे ऐसे अंशको देखता है जिस ज्ञानमें विवेकका अंश नहीं है, अविवेक है। ज्ञेयके चङ्क्रमणमें ज्ञप्तिको फसाकर अर्थात् अपने आपके अस्तित्वको खोकर ज्ञेयको ही अपना अस्तित्त्व मानकर जो दृष्टि बनती है उस दृष्टिके मालिक बन कर यह सर्व जगत् पागल दिख रहा है। ऐसे कामले रोगभरी आंखोंसे पदार्थोका रूप क्या सही दीखेगा? नहीं। पीला, पीला अर्थात् अयथार्थ दीखेगा। यदि मोहभरी ज्ञानज्योतिसे किसीको निरखेगा तो क्या यथार्थ स्वरूपको निरख लेगा? न जाने कितने अर्थ यह लगायेगा व कैसे वृत्ति करेगा यह?

आत्माकी महती लीलायें—यह आत्मा भगवान ही तो है यह सुधारके पथमें है तो अलौकिक लोकालोकज्ञ ज्ञानका चमत्कार उत्पन्न कर लेता है और यह मोहादि कुपथमें है तो पेड़ पत्ती फलके रूपमें पसर जाना और

अटपट कल्पनाएँ बना लेना यह उसका चमत्कार है। बड़ा आदमी विगड़ जाय तो अनर्थका भी बड़ा काम करेगा और बड़े आराम ढंगसे रहे तो अच्छा भी बड़ा काम करेगा। ये जन्म मरण, ऐसे कीड़े मकोड़े बन जाना, और विचित्र विविध विलास लीलाएं खेलना यह काम कोई पुद्गल कर तो ले। वैज्ञानिक लोग किसी विज्ञानसे ऐसी सृष्टि बना तो दें। हम आप भगवानकी ही ऐसी तारीफ है कि पेड़ पत्ती आदि बनकर पसर जायें। आज तो ऐसे मनुष्य बैठे हैं और कलके दिन पेड़ हुए और उप आकारमें पसर जायें यह क्या कम तारीफ है? लेकिन यह सब मोहकी तारीफ है। इसके स्वभावकी तारीफ नहीं है।

श्रद्धा ज्ञान व चारित्रकी सदा वर्तना—जीवका गुण उपयोग है जिसका अर्थ है कहीं न कहीं लगना। यह जीव खाली नहीं रह सकता है कि वह अपने ज्ञान दर्शन और चारित्रका काम बन्द करदे। किसी भी जगह श्रद्धा हो, श्रद्धा रहेगी। किसी भी पदार्थका ज्ञान हो, ज्ञान रहेगा और किसी ओर ही लगे यह लगना भी रहेगा। जब यह जीव आत्मा और अनात्माके स्वरूप से विमुख रहता है तब जो इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं उन पदार्थोंमें लगता है और, जब इसे अपने आत्मस्वरूपका भान होता है तो चूँकि इस आत्मस्पर्शका अलौकिक आनन्द है तो उस आनन्दरससे तृप्त होकर यह अपनी ओर ही लगा करता है। जिसे अपना आनन्द नहीं मिला वह बाह्य पदार्थोंमें लगता है और जिसे आत्मीय आनन्द मिला वह अपने आपमें लगता है। जिसने आगमका ज्ञान नहीं किया वह मदिरापायीकी तरह बाह्य पदार्थोंमें डोलता रहता है। आत्माके प्रदेशमें जो शरीरादिक पर द्रव्य हैं उनमें लगा रहता है और उपयोगसे मिला हुआ जो रागद्वेष परिणाम हैं उनमें लगा रहता है। सो स्व और परका निश्चय करानेवाले आगमोपदेशका तो अध्ययन किया नहीं, नहीं तो स्वानुभव हो सकता था। तो स्वानुभवका अभाव होनेसे यह पर पदार्थ है, यह मैं आत्मा हूँ ऐसा उसके ज्ञान नहीं होता है।

अज्ञानी जीवों द्वारा परमात्मतत्त्वका तिरस्कार—इस जीवका किसी भी अन्य द्रव्यके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह जीव ही स्वयं अपनेमें कल्पनाएँ बनाकर परपदार्थोंके आधीन बन जाता है पर इसको कोई पराधीन नहीं बनाता है जो घरमें रह रहे हैं वे स्वयं मोहवश आधीनता स्वीकार करके रह रहे हैं। कोई दूसरा प्राणी इसे आधीन बनाता है सो बात नहीं है। रागका बन्धन सबसे विकट बन्धन है बिछुड़ भी कोई जाय तो रागका बन्धन बना रहता है। तो ऐसे श्रद्धा ज्ञान चरित्रके विपरीत परिणामनसे

"यह मैं हूँ और ये पर हैं" इस प्रकारका ज्ञान जिसे नहीं होता है, जिसे स्व और परका भेद विज्ञान नहीं है वह परमात्मतत्त्वको क्या जानेगा। लोकमें परमात्मस्वभावके परिचयवाले अधिक नहीं हैं और अज्ञानमें, मोहमें लगे रहने वाले अनन्त जीव हैं। मोही जीवोंने तो इस परमात्मतत्त्वका तिरस्कार कर दिया है। तो परमात्मतत्त्वका तिरस्कार न समझिए किन्तु स्वयं अपने आपका तिरोभाव, तिरस्कार समझिए। इस परमात्मस्वरूपकी तो अब भी बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्री, राजा महाराजा जो विरक्त हुए, ज्ञानस्वभावसे परिचित हुए वे अब भी परमात्मतत्त्वका आदर करके उसके उपासनाके प्रसादको पा रहे हैं।

मोहियों द्वारा ब्रह्मस्वरुप के निरादर किये जानेसे निरादर होनेके अभावपर एक दृष्टान्त – एक कविने कहा है : त्वं चेन्नीचजनानुरोधनवशादस्मासु मंदादरः। का नो मानद मानहानिरियता स्यात्कि त्वमेकः प्रभुः। गुञ्जापुञ्जपरम्परा-परिचयाद्भिल्लीजनैरुज्झितं। मुक्तादाम न धाम धारयति कि कण्ठे कुरंगीदृशाम्॥ यह छन्द एक राजा द्वारा उपेक्षित कविने राजासे कहा है कि हे राजन्! यदि तुम नीच जनोंके अनुरोधके वशसे हम लोगोंमें उपेक्षा करते हो, करो। क्या तुम ही एक प्रभु हो। तुम्हारे इस वर्तावसे मेरी कोई हानि नहीं है। जैसे जंगलमें भीलनीको गजमुक्ता मिल जाय जो बड़ी कीमती होती है किन्तु उसे गजमुक्ताका स्वरूप नहीं विदित है, सो उसका उपयोग पैरोंमें घिसनेके लिए करती है। तो हे भीलनी! तू अज्ञानवश इन गजमुक्तमालाओं का आदर नहीं करती है तो नहीं कर। तेरे निरादर करनेसे क्या होता! क्या ये गजमोती बड़ी बड़ी पट्टरानियोंके गलेमें हार बनकर शोभा नहीं देती हैं?

परमात्मस्वरूपकी उपासनासे ही हम सबका महत्त्व – मोही पापी जनोंके संग प्रसंगसे इस परमात्मस्वरूपका मोही जन, अज्ञानी जन निरादर करते हैं, इसकी ओर दृष्टि नहीं देते हैं, तो क्या इस ब्रह्मस्वरूपका महत्त्व कम हो गया? अब भी बड़े-बड़े ज्ञानी संत इस परमात्मस्वरूपपर ही न्यौछावर बने रहते हैं। धर्मके नाम पर हम कितना ही श्रम कर डाले किन्तु ज्ञानस्वभाव आनन्दघन निज प्रभुका परिचय न हो तो कभी न तो कर्मोंका क्षय होता है और न शांति मिलती है। मनुष्य जन्मकी फिर सफलता ही क्या? मनुष्योंमें और पशुओंमें कोई अन्तर है तो एक धर्मधारण करनेका अन्तर है। अन्यथा आहार मनुष्य भी करते पशु भी करते, निद्रा मनुष्य भी लेते पशु भी लेते, भय मनुष्य करते हैं, पशु भी करते हैं, मैथुन मनुष्य भी करते हैं, और पशु

भी करते। फर्क क्या रहा ? एक धर्म नहीं है तो भैया, यह मनुष्य पशुके समान कहा गया है।

धर्महीन मनुष्यकी दशा—धर्मेण हीनः पशुभिः समानः। वह कवि भी मनुष्य ही था इसलिए अपनी गिरावट ज्यादह नहीं बताई। धर्मरहित मनुष्य तो पशुसे हीन है। खूब विचार करके देखलो। लोकमें जब शरीर बलका वर्णन करने चलें तो यह कहा जायगा कि इस मनुष्यमें सिंहकी तरह बल है। जिस चीजकी उपमा दी जाय वह तो होती है बड़ी और जिसके लिए उपमा दी जाय वह होता छोटा। जैसे कहते हैं कि अमुक मनुष्यका मुख चन्द्रबिम्बके समान है। तो मनुष्य महान महिमा वाला हुआ कि चन्द्र महान् महिमा वाला हुआ ? चन्द्र हुआ। जब मनुष्यके बलकी तारीफ की जाती है तो सिंहसे उपमा दी जाती है। तो बलमें सिंहसे उपमा दी जाती है तो बलमें सिंह बड़ा हुआ कि मनुष्य ? सिंह बड़ा हुआ, मनुष्य नहीं। जब मनुष्यके स्वरकी तारीफ की जाती है तब कहा जाता है कि इसका स्वर कोकिलके समान है। तो स्वरमें कोकिल बड़ा हुआ कि मनुष्य ? कोकिल बड़ा हुआ। जब मनुष्यके शरीरकी शोभा बताई जाती है तो कहते हैं कि इसकी नाक सुवेकी नाककी तरह है। जब केशोंकी तारीफ की जाती है तो कहते हैं कि अमुक महिलाके या अमुक रानीके केश सर्पके समान कांतिमान हैं तो उसमें भी उपमा पशुसे दी गयी है।

निद्रा, आहार, भय, मैथुनके सम्बन्धमें मनुष्य और पशुकी तुलना—जो कोई बड़ी सावधानीसे सोता हो, जो थोड़ीसी आहटमें जग जाता हो तो उसे कहते हैं कि इसकी नींद कुत्तेकी तरह है तो इसमें बड़ा कुत्ता हुआ, मनुष्य नहीं हुआ। आहारकी बात देखो, पशु पक्षियोंका पेट भरा हो तो उनका भोज्य पदार्थ कितना ही सामने पड़ा हो उस पर निगाह तक नहीं डालता किन्तु यह मनुष्य पेट भी भरा हो और सरस कोई चीज आजाय, चटपटी आ जाय तो उसे भी अपने पेटमें डालनेकी जगह दे देता है। पशु-पक्षियोंको कोई लाठी लेकर मारने जाय तो वह डरेगा पर यह मनुष्य तो रात दिन डरता रहता है। कितनी इसे चिंताएँ हैं ? क्या-क्या यह सोचता है ? रात दिन डरता रहता है। पशु पक्षीके विषयके लिए कोई ऋतु या कोई माह नियत रहता है, पर मनुष्यके लिए १२ महीनेमें प्रकृत्या कुछ नियत भी है क्या ? कौनसी दृष्टिमें यह कहें कि यह मनुष्य पशुके बराबर है या पशुसे बड़ा है।

धर्मके कारण ही मनुष्यकी श्रेष्ठता—केवल एक धर्म ऐसा तत्त्व है, जिसकी वजहसे कह सकते हैं कि मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ है। उदारता, परोपकार

और प्रभुभक्ति आत्मध्यान इनसे मनुष्यकी श्रेष्टता है। यदि ये बातें न बन सकें तो फिर मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ कहलानेका अधिकारी नहीं हो सकता। ज्ञानमें वह सामर्थ्य है कि यह जीव लौकिक सुखसे भी सुखी हो सकता है और निर्वाणसुखसे भी सुखी हो सकता है। भैया ! इस जड़ धन वैभवसे ज्ञान तत्त्वका महत्त्व अनन्तगुणां है। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव परमात्मस्वभाव का दर्शन किया है उसका संसार कट चुका। वह सदाके लिए दुखोंसे छूट जायगा किन्तु स्त्रीपुत्र धन वैभवसे कोई जीव पार नहीं हो सकता, उल्टा फसता ही चला जायगा। तभी तो आदर्श गृहस्थ उसे कहा करते हैं कि जो धन वैभवमें रहता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है, उसमें आशक्ति नहीं होती। यदि आशक्ति है तो वह बड़ा गरीब है, कोई इस दीन आसक्तका शरण नहीं होगा।

दृष्टिके गरीबकी दशा—अहो ! देखो इस गरीवकी दशा, कर्म दमादम बँधते चले जा रहे हैं, उनका उदय आयगा, पापके उदयमें मित्र भी विपरीत हो जाते हैं परिवार भी विपरीत हो जाता है। अपना तनभी क्षीण हो जाता है। और, कभी पुण्यका भी उदय आजाय तो कितने क्षण। कहते हैं ना कहावत में कि बकराकी माँ कितने दिन खैर मनानेमें टालेगी ? आखिरमें नष्ट होगा ही। इसी तरह पुण्यके दिन कितने दिन काट लोगे आखिर तो पुण्य नष्ट होगा। किसीके पुण्यका नाश होता है पापका उदय आकर और किसीका पुण्य नष्ट होता है निर्वाण पाकर। इतना ही तो अन्तर है, पर पुण्यका नाश अवश्य होगा। पुण्यकी विभूति देखकर उससे गर्व करना, दर्प करना, इतराना बिल्कुल उचित नहीं है। यह दृष्टि रहे कि हम इस धनके कमाने वाले नहीं है। उदय है तो आता है और उदय नहीं है तो चला जाता है इस ओर दृष्टि विशेष नहीं देना चाहिए।

गृहस्थका ठोस कर्तव्य—कर्तव्य है गृहस्थका कि समयपर दूकानपर जाय, आफिस जाय, काम करे पर कितना मिलता है, कितना आता है यह चिंता न करे। धन आना है तो आता है और यदि उदयमें नहीं है तो आपकी चिन्तावोंसे धन आयगा क्या ? धनसंचय करना यह मनुष्यका काम नहीं है। यह तो एक गुजारेकी बात है। मनुष्यका काम तो ऐसी अलौकिक दृष्टि पा लेना है जिसके पा लेनेके बाद फिर कोई संकट नहीं रहता। संकट धनसे नहीं टलते। धनसे तो संकट बढ़ते है। जरा अपनी अपनी स्थितिको भी तो देखलो। जब थोड़ा धन था, थोड़ा व्यवसाय था तब कितना समय था, कितना संतोष था अब जब कुछ धनमें बढ़ गये तो समय भी कुछ कम रह

गया, श्रम भी बढ़ गया, विकल्प भी बढ़ गये, परेशानियां भी बहुत बढ़ गईं और कहो कभी यह धन प्राणघातका कारण वन सकता है। सरकार जुदा सताये, चोर डाकू जुदा सतायें, परिवारके लोग जुदा अपना गणित लगाते फिरें। कितना उपद्रव है धनके कारण।

ज्ञानीके उपयोगका विश्रामभवन—शान्ति कहीं भी नहीं है। शान्ति तो आत्माका स्वभाव है। इस शान्तिस्वभावी ज्ञान ज्योतिका यदि दर्शन हुआ तो संकट सब टल गये समझो। इस प्रभुके दर्शन एक विशिष्ट तैयारी होनेपर ही हो सकता है ऐसा ज्ञान वनाओ कि किसी परपदार्थमें आशक्ति न रहे परका संकल्प विकल्प न रहे तो इस प्रभुको दर्शन तो देना ही पड़ेगा। जायगा कहाँ? ज्ञानी संतोंकी वृत्ति ऐसी होती है जैसे जहाजकी चोटीपर वैठा हुआ पक्षी जहाजके चल जानेपर जब कि जहाज १० मील भीतर समुद्रमें चला गया तो अब वह पक्षी उड़कर कहाँ जाये? उस चोटीको छोड़कर उड़ता है, पर किसी जगह उसे आलम्वन नहीं मिलता तो वापिस आकर उस ही चोटीपर आ जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवका उपयोग प्रभुको छोड़कर, अपने आतमस्वभावको छोड़कर कहाँ जाय? ज्ञानीके उपयोगका विश्रामभवन तो निज ज्ञायकस्वभाव है।

उपयोगकी वृत्तिशीलता—जाता तो है पक्षी। उसमें ऐसी चंचलता तो है कि वह चोटीपर वैठा ही नहीं रह सकता क्योंकि उसमें उड़नेकी कला है। कलावान पुरुष निरुद्यमी नहीं वैठ सकता है। तो वह उड़नेकी कला वाला पक्षी उस चोटीको छोड़कर इधर उधरकी दिशावोंमें भागता है पर कहीं आलम्वन उसे नहीं मिलता सो अपने केन्द्रस्थानपर आजाता है। इसी प्रकार यह उपयोग चूँकि ऐसी कला है ना, कि जिस चाहे को जाना करे। जाननेमें उसे मेहनत नहीं पड़ती है। सो यह भागता है वाह्य पदार्थोंमें, किन्तु ज्ञानके उपयोगको वाहरमें आलम्वन नहीं मिलता तो लौटकर फिर अपने उस स्वरूपके ही उपयोगमें ले जाता है।

त्रुटिका ज्ञान एक प्रकाश—हमें अपनी गल्तियोंका पता रहा करे तो यह वड़ा ज्ञानप्रकाश है। भ्रममें गल्तियाँ नहीं मालूम पड़ती। मोहमें यही तो एक वड़ी विपदा है। जव गल्ती, गल्ती नहीं मालूम देती तो उस गल्तीमें हम वढ़ते चले जाते हैं। यह गृहस्थजीवन यह श्रावकजीवन सब गल्ती-गल्तीसे ही भरा हुआ है और श्रावकके लिए ही क्या सर्व संसारी जीवन गल्तियोंसे ही भरा हुआ है। यहां यदि विजय है तो एक सम्यग्ज्ञानके कारण विजय है। वह ज्ञान शुद्ध आगमके द्वारा होता है और आगमहीन

साधु किसी भी प्रकार अपने परमात्मस्वरूप तक नहीं पहुँच सकता सो सर्व उद्यम करके आगमज्ञानमें, तत्त्वज्ञानमें अपने उपयोगको लगाना चाहिये।

आगमज्ञान बिना प्रभुताके दरवारतक पहुँचका अभाव—जिस मनुष्यने आगमज्ञानमें प्रवृति नहीं की है, उसे स्व और परका भेद नहीं ज्ञात हो सकता है। जब स्व और परका भेद ज्ञात नहीं हो सकता है तब स्वके अनुभवके लिए वृति कैसे जग सकती है? और जब स्वका अनुभव नहीं तो परमात्माका ज्ञान भी कैसे हो। परमात्माका ज्ञान स्वके अनुभवके द्वारसे ही हुआ करता है। कहीं आँखोंसे आकाशमें देख लें और परमात्माका दर्शन हो जाय ऐसा तो नहीं है। साक्षात् समवशरणमें भी इन्द्रियोंसे परमात्माका दशन नहीं होता है। एक यह पुतला दीख जायगा। प्रभुका दर्शन तब होगा जब कुछ स्वके ज्ञानका उपयोग होरहा हो। स्वका अनुभव होने पर ही उस प्रभुताकी महिमा जानी जाती है। जिनके स्वानुभव नहीं होता है वे ज्ञानस्वभावी एक परमात्माका ज्ञान भी नहीं कर सकते हैं। जिसे परका, आत्माका और परमात्माका ज्ञान नहीं है वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता।

आगमज्ञानके न होने व होनेमें हानि लाभ—स्व, पर व परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे रहित जीवोंने रागद्वेष मोह भावोंमें एकता करली है, ये रागद्वेष मोहभाव कैसे हुए? इन द्रव्यकर्मोके द्वारा होगए शरीरादिकके कारण होने वाली जो अन्य भावनायें हैं उन वासनाओंसे ये रागद्वेष मोह हुए। उनमें कुछ जीवोंने एकता करली। अब उन्हें यह बोध नहीं रहा कि ये तो घातक हैं और यह मैं वध्य होरहा हूँ। अर्थात् यह मोहका परिणाम घात कर रहा है और यह मैं घता चला जारहा हूँ। उपयोगमें स्वपरद्रव्यका विभाग न होने से वह न द्रव्यरूप कर्मोका क्षय कर सकता है और न भावरूप कर्मोका क्षय कर सकता है।

जीवका धनवैभवसे प्रेम कर सकनेका अभाव—अच्छा, यह जीव किसमें प्रेम करता है इसका ही निर्णय कर लो। क्या यह धन वैभवसे प्रेम करता है? नहीं धन वैभव तो पृथक् चीजें हैं। प्रथम तो प्रेम पर्याय है। सो भैया, यह प्रीतिरूप पर्याय आत्मप्रदेशमें ही हो कर यहीं समाप्त हो जाता है। फिर धनके लिये धन कोई नहीं कमाता, इज्जतके लिए धन कमाया जाता है और वह इज्जत क्या चीज है? आत्माकी एक कल्पना व राग द्वेष मोहसे मलिन हुआ परिणाम। इज्जतकी चाहना, दूसरोंके प्रति द्वेष रखे बिना नहीं होती सो यशचाहमें द्वेष भी भरा हुआ है इज्जतका अर्थ तो यही है कि और लोगोंसे मैं बड़ा श्रेष्ट कहलाऊँ। तब और लोगोंसे

द्वेष हुआ कि नहीं ? कोई सब जीवोंमें घुलमिलकर यदि रह पाये तो वह धन वैभवसे प्रेम न करेगा।

प्रेमपर्यायका आधार—तो क्या यह परिवारके उन दो चार व्यक्तियोंसे प्रेम करता है ? उनसे भी प्रेम नहीं करता है। जो कारण वैभवके प्रेमके निषेधका है वही कारण परिवारके प्रेमके निषेधमें लगता है। वह भिन्न है। वहाँ प्रेम पर्याय नहीं होती और फिर परिवारके लिए प्रेम कोई नहीं करता। स्वान्तः सुखाय प्रेम किया करते हैं। तो क्या वे शरीरसे प्रेम करते हैं ? शरीरसे भी कोई प्रेम नहीं करता है। एकक्षेत्रावगाह यह शरीर है, तथापि आत्मद्रव्य उससे भिन्न है। भिन्न द्रव्यमें उसकी पर्याय नहीं पहुँचती, किन्तु स्वान्तः-सुखाय वह परिणाम करता है। इस तरह सोचते जायें तो सभी के मूलमें यह बात मिलेगी कि ये जीव अपने रागद्वेष मोहके परिणामोंसे प्रेम पर्याय करते हैं। वे किसी अन्य पदार्थोंसे प्रेम नहीं करते है।

विपरीत एकता—इन अज्ञानी जीवोंने रागद्वेष मोहमें एकता ला दी है। यही मैं हूँ, मैं ठीक कररहा हूँ, मैं जो सोचता हूँ सो सब ठीक सोचता हूँ। क्या ठीक सोचता हूँ ? केवलज्ञान होनेसे पहिले असत्य मन और अशुद्ध वचन की सम्भावना बताई है। हम तुम कौनसी मूलीकी जड़ हैं ? यह अज्ञानी जीव अपने उन अध्रुव औपाधिक दुःखस्वरूप भावोंमें एकता कर लेता है कि यह मैं हूँ सो वहाँ तो कर्मोके क्षयकी सिद्धि असंभव ही है। भैया, स्वानुभव बिना ऐसी विपरीत एकता होती है जिसके कारण मुनि भी हो जाय तो भी द्रव्यलिंगी मुनि कहलाता है। मैं साधु हूँ यह दृष्टि मिथ्यात्वकी श्रद्धा है। मैं चेतन हूँ, यह श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा है। यथार्थ श्रद्धामें व्यवहारसे यह भी कहेंगे कि भाई मैं साधु हूँ, मेरे करने लायक अन्य काम नहीं है, ऐसा कह देने पर भी अन्तरमें यह श्रद्धा है कि साधु एक परिणमन है, पर्याय है। उसका स्वरूप काम नहीं है। मैं तो अनादि अनन्त एक ज्ञायक स्वभाव मात्र हूँ।

दुःसंगसे निकलनेमें भलाई—भैया ! जब किसी दुष्टसे फँस जाते हैं तो सद्व्यवहार करके उस दुष्टसे फंदा छुटानेकी सोचते हैं। इस कर्म नोकर्म, शरीरके संगमें फँस गया तो कोई युक्ति निकाल करके इससे हम छूटनेकी बात सोच रहे हैं यह सब सामर्थ्य ज्ञानकी है। सो जो आगमहीन साधु है वह कर्मोका कैसे क्षय कर सकता है। यहाँ तीन प्रकारसे कर्म बताये जा रहे हैं। द्रव्यकर्म, भाव कर्म और ज्ञप्तिपरिवर्तन। ज्ञप्तिपरिवर्तनका क्षय कर सकता है वीतरागी श्रमण। केवलज्ञानी इन तीनों कर्मोसे रहित है अर्थात् सिद्ध महाराज तीनों कर्मोसे रहित हैं और अरहंतदेव भावकर्म और ज्ञप्ति

परिवर्तन कर्म इन दोसे रहित है और उपशांत मोह, क्षीण मोह में दो गुणस्थानवर्ती जीव भावकर्मसे रहित हैं। और हम लोग तो तीनोंमें फँसे हैं। क्षीणमोह गुणस्थानमें जब ज्ञप्तिपरिवर्तन नहीं रहता है तब एकत्व-वितर्क अवीचार शुक्लध्यान होता है तब यह ज्ञप्ति परिवर्तनसे भी रहित है। ज्ञप्तिपरिवर्तन १२ वें गुणस्थानमें कुछ समयतक चलता है, फिर एकत्व-वितर्क अवीचार चलता है इसके पश्चात् ही उनके केवल ज्ञान होता है।

अनात्मज्ञानी साधुके कर्मक्षयका अभाव— मोही साधुवोंने द्रव्यकर्म और भावकर्मके क्षयकी कला नहीं पायी है। इसके कोई खिलौना तो चाहिए ना। गाँठका खिलौना नहीं हो तो पराये खिलौनेको दौड़ेगा। जिसको स्वानुभूति की लीलाका स्वाद नहीं आया हो वह परद्रव्योमें आकर्षित होगा। स्वनिष्ठता न होनेसे परवस्तुमें पात और उत्पात रूपसे परिणति होती रहती है अर्थात् गिरे और उठे। किसी वस्तुमें झुके उसके मायने गिरना और किसी वस्तुसे उठकर दूसरे ज्ञानमें गया तो इसके मायने है उठना। उठे और दूसरे में गिर गये गेंदकी तरह पात और उत्पात होता रहता है इसी प्रकार ज्ञप्ति परिवर्तनशून्य स्थितिसे पहिले जीवकी स्थिति गिरती व उठती है। किसीसे उठा फिर किसीमें गया। यह क्रिया अनादिकालसे चली आरही है। अनादि कालसे यह परिवर्तन अनिवार्यरूपसे चला आरहा है, क्योंकि जो परमात्म-स्वरूप है, ध्रुव ज्ञायक स्वरूप है उस स्वरूपमें निष्ठता नहीं है। इस कारण इसका परिवर्तन अनिवार्य चला आरहा है। ऐसे ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का क्षय भी आगम हीन साधुके नहीं हो सकता। इस कारण जो कर्मक्षय करना चाहते हैं उन्हें आगमकी सर्व प्रकारसे उपासना करना चाहिए।

हमारा शरण—हमारा शरण है तो यह शुद्ध ज्ञान ही है, बाकी और कुछ शरण नहीं है। खूब देखलो, क्या धरा है इन पर जीवोंके मोहमें इन अनन्ते जीवोंमेंसे ये जो एक दो जीव हैं क्या ये कुछ अनौखे हैं, विलक्षण हैं? कोई खासियत रखनेवाले हैं। पर वाह रे मोह! तूने इन जीवोंमें ही अपनी सारी खासियत मान ली। वड़ी दुर्लभतासे यह मनुष्य जन्म पाया उसमें भी कितना सुयोग समागम कितने ही गरीब भिखारी कैसे कैसे दर-दर भीख मागते फिरते हैं। उनकी उन्नतिकी बात क्या हुई? और भी लोग मानों कुछ थोड़े सम्पन्न हैं तो कहाँ-कहाँ घूम रहे हैं, कैसा-कैसा कुसंग ले रहे हैं, गप्पें और व्यसनोंके प्रसंगमें तन, मन, धन, वचनकी वर्वादी में लगे हुए कितने ही मनुष्य पाये जाते हैं।

पवित्र वातावरणका सुयोग—कुछ विचारक भी मनुष्य हैं तो उनको जो

शुद्ध पथ है शिव स्वरूप है कल्याणका स्रोत है उसकी रुचि ही नहीं है। वातावरण ही ऐसा नहीं है कि जिससे इस शुद्ध ज्ञान देवकी रुचि जग सके। धर्म भी करेंगे तो कर्तृत्व बुद्धि, रागबुद्धि की पद्धतिसे करेंगे पर आप हमको कितना सुयोग्य अवसर मिला है, धर्मका साधन है, सर्वत्र वीतरागताके साधन हैं। जैसे मूर्तिमें परमात्मत्वकी स्थापना की है जो शृंगाररहित, अकिंचन, एक चिद्रूप विशुद्ध एक समतास्वरूप है जिसकी मुद्रामें रागद्वेष की बातोंका अवसर ही नहीं है जिनालयोंमें प्रत्येक स्थानपर शास्त्रभवन, चित्रकला की जो चीजें है वे सब वीतरागताको पोषने वाली है।

वीतरागता—वीतराग प्रभुकी भक्तिमें इन्द्रोंने बड़ा ठाट बनाया, समवशरण रचा, छत्र, चमर भामण्डल आदि रचनामें जितनी सामर्थ्य थी इन्द्रने सर्व सामर्थ्य लगा दी। जैसा स्वर्गोंमें भी नहीं हुआ करता है, ऐसी रचना की। तो हम भक्तजन भी प्रभुको स्पर्श न कराते हुए मूर्तिके निकट अलग-अलग छत्र, चमर सिंहासन और-और प्रकारकी शोभायें करते हैं यह भक्तके भक्तिकी बात है पर इस शोभा शृंगारमें भी हमें वीतरागताके दर्शन होते हैं। देखो यह प्रभु अगल बगलकी-कितनी शोभा, शृंगारके बीच रहते हुए भी अलिप्त है।

दुर्लभ पवित्र अवसरसे लाभ उठानेका अनुरोध—जिस समाजका ऐसा पवित्र वातावरण है, उसमें जन्म लेकर भी ऐसे दुर्लभ अवसरमें भी हम लाभ न उठा सके तो फिर कहां लाभ उठायेंगे? बन गये कीड़े मकोड़े, पेड़ पौंधे व अन्य भवोंमें पहुँच गये तो फिर कल्याणका क्या अवसर रहा? सो कल्याणका एक ही साधन है कि आगमज्ञानमें जुट जावो। इस पावन आगम ज्ञानकी उपेक्षा न करो, यह जीवन झट निकल जायगा। कितने वर्ष निकल गये, कुछ मालूम ही न पड़ा। कैसे यह समय निकल गया। सभी अनुभव कर रहे हैं। अब थोड़ा समय रह गया तो समयकी उपेक्षा न करो। कुछ प्रयोगात्मक काम करो। कुछ समय ज्ञानके लिए दो। स्वाध्याय का नियम है, दो मिनटमें दो लकीर पढ़ लिया। क्यों भाई क्या यह स्वाध्याय है? भाई सरल ग्रन्थोंको क्रमशः स्वाध्याय करके अपने ज्ञानकी वृद्धि करो।

आत्महितके लिये आगमज्ञानकी साधकता—आगमज्ञानसे ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ बोध होता है। जीव वह है जो चेतन पदार्थ है। अजीव वह है जो अचेतन है इसमें प्रकरणवश द्रव्यकर्मको अजीवसे समझना। ये दो तो मूल तत्त्व हैं इनकी पर्यायें ५ हैं—और पुण्य पापका भेद मिलानेसे सात परिणमन हो जाते है पुण्य, पाप आस्रव, बन्ध,

संवर, निर्जरा व मोक्ष। आस्रव कर्मोंके आनेको कहते हैं। बन्ध कर्मोंके बँधनेको कहते हैं। कर्मोंका आस्रव रुकनेको संवर कहते हैं। कर्मोंके कुछ कुछ क्षय होनेको निर्जरा कहते है तथा कर्मोंका पूर्णरूपसे क्षय होजानेको मोक्ष कहते हैं। अब इन तत्त्वों को अध्यात्मपद्धतिस सोचिये।

पुण्य पाप तत्त्वका निर्देशन– शुभभावको पुण्य व अशुभभावको पाप कहते हैं। ये पुण्य व पाप विकार्य व विकारकके भेदसे दो दो तरह के होते हैं। जब कर्मोंका उदय होता है तब आत्मामें विकारभाव होता है। यह आत्मा विकार होने योग्य होगया है। तब यह विकार्य कर्म कहलाया। तथा जब आत्मविकार होता है तब यह कर्मत्वविकारका निमित्त होता है। अतः यही जीव विकारक कर्म भी है अर्थात् जब यह जीव विकार करता है तो जीवके उस विकारको निमित्त पाकर कर्म भी विकृत हो जाते हैं, उसमें भी प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बन्ध हो जाता है। इसलिए विकारक कर्म भी जीव कहलाया। इसी तरहसे पुद्गल कर्म भी विकार्य और विकारक होते हैं जीवोंके भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंमें विकार आता है इसलिए कर्म विकार्य कहलाये। और कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकार होता है तो इस विकार्य जीवके लिए विकारक कर्म कहलाया।

विकारोंकी मित्रतामें परस्परका विगाड़—इस तरह कर्मोंमें परस्परमें दो प्रकारकी बात पायी जाती है कि वे खुद बिगड़ रहे हैं और दूसरोंके बिगड़ने के कारण भी होरहे हैं। इस प्रकार जीवमें भी दो प्रकारकी बातें पायी जाती हैं कि वे खुद बिगड़ रहे हैं और कर्मके बिगाड़के निमित्त भी होरहे हैं। देखो तो दोनोंका ऐसा निमित्तनैमितिक संबंध कैसाहै कि जिसके कारण दोनोंके दोनों ही बरबाद होरहे हैं। कर्म चेतन नहीं है इसलिए उसे बरबादीका अनुभव नहीं है, परंतु आत्मा स्वयं चेतन स्वरूप है, उसे बरबादी का अनुभव है। हमें इस बर्बादीसे बचनेका यदि कोई उपाय प्रतीत होना चाहिए तो यही कि हम प्रत्येक पर पर्यायोंको इन चार ही प्रकारके भावोंको शनैः शनैः भूतार्थनयकी ओर खींचें तो यह पर्यायदृष्टि हट जायगी और द्रव्य दृष्टि आयगी। उस द्रव्यदृष्टिमें ये समस्त दृष्टियां भी खतम हो जाँयगीं और केवल एक चित्प्रकाशका अनुभव रह जायगा। यदि हम स्वतंत्रतया इन पर्यायोंको निरखे, पर्यायोंके निमित्तपर दृष्टि न दें, संयोगमें न डालें केवल पर्यायको ही पर्यायके स्रोतकी ओर झुककर देखते रहें तो पर्यायसे छूटकर बहुत ही जल्दी द्रव्यका देखना हो जायगा। देखो कर्म भी पुण्य पाप हैं और जीव भी पुण्य पाप हैं।

आस्रव तत्त्वका निर्देशन—कर्म भी आस्रव है और जीव भी आस्रव है। कर्मकी भी आस्रव अवस्था होती है और जीवकी भी आस्रव अवस्था होती है। कर्ममें आस्रव अवस्था कर्मकी है और जीवमें आस्रव अवस्था जीवकी है। पर जीवको निमित्त पाकर कर्ममें आस्रव अवस्था होती है और कर्मको निमित्त पाकर जीवमें आस्रव अवस्था होती है तो यदि हम स्वतंत्रतया कर्मके आस्रवको ही देखें और जीवके आस्रवको ही देखें तो इस भूतार्थपद्धतिसे द्रव्यदर्शन होगा। परस्परका सम्बन्ध छोड़ दें तो देखनेमें तो कर्मोंका आस्रव पहिले तो स्वतंत्रतया ऐसा दिखनेमें आयेगा कि अहो! यह कर्मोंका आस्रव है। पर उस आस्रवको उस ही के स्रोतपर दृष्टि डालकर देखें कि यह आस्रव कहाँ से होता है याने कर्मोंका आस्रव जीवसे होता है अथवा कर्मसे होता है? कर्मोंका आस्रव कर्मसे होता है। कर्मका आस्रव जीवसे नहीं होता है। जिससे हुआ है उसकी दृष्टिको न छोड़ो और उसकी दृष्टि प्रबल बनाओ तो आस्रवपर्याय दृष्टिसे ओझल हो जायगी और द्रव्य दृष्टि प्रधान बन जायगी। जब द्रव्यदृष्टि प्रधान बनती है उस समय पर्याय उपयोगमें न होने पर संकल्प विकल्प सब दूर हो जाते हैं और एक सामान्यके अवलम्बनके कारण बन जाते हैं।

भूतार्थ पद्धतिसे जीवास्रवका निर्देशन—इसी तरह जीवके आस्रवपर ध्यान दो। जीवका आस्रव होता है मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। मिथ्यात्व क्या कर्मकी परिणतिसे होता है? नहीं, यह जीवकी ही श्रद्धागुणकी विपरीत परिणति है। क्या अविरति कर्मकी परिणतिसे हुआ है? नहीं, यह अविरति जीवके चारित्र गुणकी विपरीत परिणतिसे हुआ है। जीवास्रव क्या कर्मोंकी परिणतिसे होता है? नहीं। यह जीवका आस्रव जीवकी परिणतिसे होता है। कषाय क्या कर्मकी परिणतिसे होते हैं। नहीं, । कषाय कर्मोंकी परिणतिसे नहीं होते हैं। ये जीवके चारित्र गुणके विकार हैं। जीवके चरित्रके विकार जीवकी परिणतिसे ही होते हैं। योग क्या कर्म की परिणतिसे होते हैं? नहीं, यह जीवकी योगशक्तिकी परिणतिसे ही होता है। तो मिथ्यात्व अविरति कषाय व योग ये आस्रव जीवकी परिणतिसे होते हैं। होते हैं कर्मोंको निमित्त पाकर, पर यहां भूतार्थदृष्टिसे विचार करें अर्थात् पर्यायको पर्यायके स्रोतकी प्रधानता लेकर निरखें बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि न दें तो यह आस्रव निराश्रय हो जाता है। भूतार्थदृष्टिकी ओर जब यह द्रष्टा लगता है तो उस समयमें पर्याय एकदम गौण होकर पर्यायका स्रोत जो जीव है और जीवका स्वभाव जो चैतन्य है, उस चैतन्यसे विशिष्ट जो

धर्म है वह प्रतिभासमें रह जाता है क्योंकि भूतार्थनयका काम एकत्वमें ले जानेका है। इस एकत्वके पथमें रहना सम्यग्दर्शनका उपाय है।

बन्धतत्त्वका निर्देशन—(१) बन्ध्य जीवबन्ध, (२) बन्धक जीवबन्ध, (३) बन्ध्य कर्मबन्ध, (४) बन्धक कर्मबन्ध। जिन भावोंसे यह आत्मा बँधा और दुखी होरहा है, अपने चैतन्य भावका विकास नहीं कर पाता है वह तो भावबन्ध (जीवबन्ध) है और ऐसे भाव होनेपर जो कर्मोंका कर्मत्वपरिणमन है वह द्रव्यबन्ध (कर्मबन्ध) है। जीवविभाव व कर्मोंका परस्परमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे दोनोंका बन्ध्य बन्धक स्वरूप बन जाता है। आस्रव और बन्धका निकट सम्बन्ध है। भूतार्थपद्धतिसे जो शैली आस्रव तत्त्वमें कही गई है वही शैली बन्धतत्त्वके बारेमें जानना।

संवर व निर्जका निर्देशन—संवर भी चार प्रकारका है—(१) संवार्य जीवसंवर, (२) संवारक जीवसंवर, (३) संवार्य कर्मसंवर और (४) संवारक कर्मसंवर। आत्माके जिन भावोंसे कर्म रुकते हैं वे तो जीवसंवर (भावसंवर) हैं और जो कर्मोंका रुक जाना है, अर्थात् कर्मत्वपरिणमन न होना है वह है कर्मसंवर (द्रव्यसंवर), इसी प्रकार निर्जरा भी चार प्रकारकी है—(१) निर्जर्य भावनिर्जरा, (२) निर्जरक भावनिर्जरा, (३) निर्जर्य द्रव्यनिर्जरा व (४) निर्जरक द्रव्यनिर्जरा। आत्माके जिन भावोंसे कर्म झड़ते हैं वह है भावनिर्जरा व कर्मोंका झड़ना है द्रव्यनिर्जरा। संवर व निर्जराके प्रसंगमें भी जीव व कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तक भाव है सो यों चारों स्वरूप बन जाते हैं। इन सबको भूतार्थपद्धतिसे देखने पर अन्तमें अभेद द्रव्य उपयोगमें अवस्थित होता है।

पर्यायके देखनेका प्रयोजन व पद्धति—यद्यपि ये आस्रव, बंध नाना प्रकार के हैं तथापि कर्मोंके आस्रव बंध कर्ममें हैं और जीवके आस्रव बन्ध जीवमें हैं ये जीवकी ऐसी ही परिणतिसे होते हैं। ऐसी दृष्टि न बनाओ कि कर्मोंके कारण जीवमें आश्रव बंध हुआ और जीवके कारण कर्मोंमें आस्रव बंध हुआ ऐसी पारस्परिक दृष्टि न बनावो। यद्यपि ऐसा ही है कि जीवके विभावको निमित्तमात्र पाकर कर्मोंमें परिणति होती है और कर्मको निमित्त मात्र करके जीवोंकी विभाव परिणति होती है इस संसार अवस्थामें, फिर भी हम ऐसा तो कर ही सकते हैं कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय है उसकी पर्याय को उस ही द्रव्यमें देखें जीवकी पर्यायोंको हम जीवमें ही देखें और कर्मोंकी पर्यायोंको कर्ममें ही देखें। ऐसा देखनेपर वे पर्याय अपने स्रोतभूत द्रव्यमें लीन हो जाती हैं और ऐसा होनेपर एकत्वमें पहुँच लिया जाता है ऐसा

एकत्वको प्राप्त करना सम्यक् ज्ञानका कारण है।

पर्यायोंके देखनेकी पद्धति हितकारी—देखो भैया ! लोग पर्यायोंको देखते हैं, पर पर्यायोंको ठीक देखना नहीं जानते, किसीकी पर्यायको अन्य किसीकी पर्याय समझते हैं। यदि ऐसे पर्यायका भी विज्ञान ठीक-ठीक बनायें कि जिसकी जो पर्याय है उसे उसमें ही लगावें तो वह सन्मार्ग पा सकता है। जैसे हम आप यहाँ बैठे हुए हैं हमारी बातोंको आप सुनते हैं और समझते भी हैं और यहाँ जबतक आप ऐसा ध्यान लगाये हुए हैं कि हम इनकी बातों को सुनें, इनकी बातोंसे ही हमें समझ आती है इस प्रकारकी अगर हम पर आप दृष्टि रखें तो आपको ज्ञानका विकाश याने अनुभव न होगा। आत्म-स्वभावको छूकर ऐसा अपने आप स्वयं अन्तरंगमें श्रद्धा करो कि श्रवणकी स्थितिमें जो ज्ञान होरहा है वह हमारी ज्ञानस्वभावकी परिणतिसे होरहा है। मेरा ज्ञानपर्याय न तो बांचनेसे होता है और न लिखनेसे होता है। वह तो हमारे ज्ञान स्वभावकी परिणतिसे होता है। जिस स्वभावमें ज्ञान पर्याय होती है उस ही स्वभावको आप अपने लक्ष्यमें रखें और ऐसा करनेमें चाहे इतनी बात भी आपमें न आये पर यह तो अपने आपके स्वभावमें ज्ञानदृष्टिद्वारा आप पा सकते है। अपनी पर्याय जिससे उत्पन्न होती है पर्यायको उसकी ओर ले जांय, उस पर्यायको स्वभावके उन्मुख करदें तो बहुत जल्दी एकत्वको पहिचान सकते हैं।

अविवाद यथार्थ अवलोकन—व्यवहारमें तो लोगोंमें यही धारणा होती है कि आगने पानीको गर्म कर दिया, फलानेने फलानेको गाली दे दिया सो गुस्सा उसके पैदा कर दिया। नाना प्रकारकी ऐसी दृष्टि बनाये हुए हैं किन्तु, बड़ीसे बड़ी लड़ाईमें, घरमें मुहल्लेमें, समाजमें जहाँ दो या अधिक आदमी लड़ रहे हों, गली गलौज कररहे हों तो उसमें ऐसी दृष्टि बनावो कि यह मनुष्य दूसरेका कुछ नहीं कररहा, अपने कषायसे परिणम रहा है। इसी प्रकारसे जो एक दूसरेको परस्परके गाली देरहे हैं उनमें से कोई समझे अथवा उनमेंसे किसीको इस प्रकारकी दृष्टि बन जाय कि यह अपने परिणमन से परिणमता है और मैं अपने परिणामसे परिणमता हूँ, तो विवाद सब समाप्त हो जाता है। इसी प्रकारसे और सबको भी देखें तो उसके भी ऐसा ज्ञान हो जाता है कि यह अपनी पर्यायतक ही है और हम अपनी पर्यायतक तक ही हैं। हमारी चीज किसी दूसरेमें नहीं जाती और न किसी दूसरेकी चीज मुझमें आती है, सर्व पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं।

भूतार्थपद्धतिकी हितकारिता—अपने पर्यायको अपने पवित्र परिणमन

द्वारा अपने स्वभावके उन्मुख कर दो। विकार भी मेरी शक्तिके परिणमनसे उत्पन्न होता और ज्ञान भी मेरी शक्तिके परिणमनसे उत्पन्न होता। अहो! अनन्तकालसे अबतक मैं लोकमें भटकता चला आया हूँ सो इन कर्मोंकी परिणतिसे नहीं भटकता आया हूँ। कर्मोंकी परिणतिसे कर्मकी अवस्था बनेगी और हमारी परिणतिसे हमारी अवस्था बनेगी। इस ही अवस्थाको यदि अवस्थाके स्रोतके उन्मुख कर दिया कि इससे ही यह परिणमन निकलता है ऐसा अभेद करनेपर वह जो चैतन्य आत्मा है उसकी दृष्टि प्रधान हो जाती है। फिर उस द्रव्यदृष्टिमें यह भेद, पर्याय दृष्टिगोचर नहीं होती। आत्माका चैतन्यस्वभाव आश्रवरहित है, बंधरहित है, कर्मरहित है, फल-रहित है। हम सबको व अपनेको देखते तो हैं पर इस ढंगसे देखते हैं जिस ढंगसे संसारमें भटकाने वाले, कषाय करने वाले, कुटुम्ब और परिवार वाले हैं। इस तरहसे देखनेका परिणाम इस आत्मामें हितकर नहीं है।

शुद्धनयका परिणाम—आत्मा ऐसा पर्यायमय है और पर्यायकी दृष्टिसे ऐसा देखना कहीं गलत नहीं है। यह है ऐसी बात, पर साथ ही साथ पर्यायमें रहने वाला जो एक ध्रुव चैतन्य है, सामान्यभूत, वह भी तो है। उसे भी तो हम देखते हैं। यद्यपि ये द्रव्य निरंतर परिणमनमें बने रहते हैं, पर्यायसे शून्य नहीं होते, पर वह परिणमन जिस एकका होता है वैसे उस सामान्य स्वरूपमें भी तो इस द्रव्यको देखा जा सकता है। जगतमें यह जीव पर्याय और विशेषकी दृष्टिसे अपनेको अनुभवमें लाता है, पर सामान्य दृष्टिसे, द्रव्य दृष्टिसे अपने को अनुभवमें नहीं लाता इस कारण निरन्तर आकुलताएँ होती जारही हैं। तो यह जीव अपने आपको निरखे कि यह मैं आत्मा अबद्ध हूँ? कर्मोंसे बंधा हुआ नहीं, छूआ हुआ नहीं, मैं आत्मा नित्य हूँ, शाश्वत चैतन्यस्वभावमें रहता हूँ यों मैं आत्मा अपने आपके सामान्य स्वरूपका अनुभव करूँ तो इसमें कल्पनाएँ नहीं रह सकती हैं, लड़ाई झगड़ा नहीं बढ़ सकता है। स्वभाव दृष्टि छोड़कर पर्यायमें आत्मीयता की तो समस्त विसंवाद हो जाता है इस तरह जीव और आत्माके इन निमित्तनैमित्तिक भावोंसे जीव भी बुरा बना जारहा है और कर्म भी बुरे बने जारहे हैं।

आत्मक्रान्ति—हे अन्तरात्मन्! इन कर्मोंको अब चेलेन्ज दो और कहो कि हे कर्म! यहाँ से निकल जावो तुम्हारी यहाँपर दाल नहीं गल सकती है हमारे तो सहज आनन्दका परिचय ज्ञानमें आरहा है तो इन कर्मोंको नोटिस देना है कि हे कर्म यहाँसे जावो, यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी। अय कर्मो! तुम यदि यह कहरहे हो कि हमारी दी हुई सम्पत्तिको तो भोग रहे हो

तो हम तुम्हारे द्वारा दी हुई सम्पदाको पूछते भी नहीं हैं। मैं तो शरीरसे भी न्यारा हूँ, केवल अपने स्वभावमें बसने वाला हूँ। मुझे जगतके अणुमें भी अणुमात्र भी कोई तृष्णा नहीं है। यदि तुम एहसान बताते हो तो हमें एक भी अणुकी आवश्यकता नही है।

संकटविनाशिनी प्रज्ञा छूटो—अहो निजनाथ! स्वयंमें ही तो यह आनन्दमय बसता हूँ। स्वयमें जो बस गया उसके कर्म झड़ जाते है। कर्म उसके एक क्षण भी टिक नहीं पाते हैं। मैं आत्मा ज्ञानघन हूँ। मैं अनादिसे परको अपना कर बाह्यमें दृष्टि देकर अब तक व्याकुल होता आया हूँ। जहाँ बाह्य में दृष्टि आ गयी बस अनेक आपत्तियाँ आने लगीं। बाह्यमें दृष्टि हो जाय, शरीरमें बड़ी व्याधियाँ उत्पन्न हो जायें पर यह सब तबतक ही सतानेके निमित्त हैं जबतक कि यह आत्मा अपने उपयोगसे बाहर रहे। शरीरमें उपयोग देता है तो इसकी प्रेरणा बढ़ती है बाह्यमें दृष्टि देता है तो इसके पीड़ा बढ़ती है जब यह अपने चित् प्रकाशमें उपयोग बनाकर रहे तो इसको कोई प्रकारका संकट नहीं आ सकता है।

विवेक—भैया! संकट आते हैं तो अपनी पर्यायबुद्धिसे आते हैं। जो पुरुष पर्यायमें आया है वह अपनेको पुरुष मानता है, जो स्त्री पर्यायमें आया है वह अपनेको स्त्री मानता है। जो बच्चा है वह अपनेको बच्चा पर्यायमय मानता है। इसी प्रकार जो जवान है जो बूढ़ा है वह अपनेको उसी पर्यायरूप मानता है। यह सब अज्ञान है। आत्मामें शांतिका मार्ग नहीं है तो इसी प्रकारकी भावनाओंसे नहीं है। आत्मा तू किसी भी अवस्थामें हो चाहे स्त्री पर्यायमें हो, चाहे पुत्र पर्यायमें, चाहे जिस किसी भी पर्यायमें रहो तुमतो केवल अपने आपके चैतन्यस्वरूपका अनुभव करो किसी भी पर्यायमें दृष्टि न देकर अपना आत्मस्वरूप स्वीकार करो। ऐसा अनुभव होनेपर न तू बालक है, न जवान है, न बूढ़ा है, न पुरुष है, न स्त्री है, न तू इस संसारमें भटकने वाला है। पर्याय यद्यपि ऐसा है, पर उपयोगमें ऐसा न रहेगा। यदि अपने उपयोग पर अपने शुद्ध तत्त्वपर लग जाय तो इसे आनन्द मिलता है। यह आत्मा न मलिन है, न उत्पन्न है, न नष्ट है, किन्तु एक सामान्य चैतन्यप्राणस्वरूप है। इस प्रकारसे अपने चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि दो तो इस संसारको कोई विपत्तियाँ नही सता सकतीं। अपने उपयोगको अपनेसे बाहर करके तो बड़े-बड़े संकट हैं, बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। और, अपने आपके आत्म स्वरूपमें अपना उपभोग रहे तो कोई विपत्ति नहीं सता सकती।

परव्यामूढ़ता ही संकट—भैया! एक बेवकूफ नामका आदमी था। और

उसकी स्त्रीका नाम फजीहत था। तो दोनोंमें हो गई लड़ाई, सो एक दिन फजीहत लड़ाई करके घरसे भग गई। अब वह पुरुष इधर उधर लोगोंसे पूछता है कि भाई मेरी फजीहत कहीं देखी है। तब जो जानते थे वे समझ गये कि यह अपनी स्त्रीको पूछ रहा है। कई आदमियोंसे इसी तरह पूछा, एक अपरिचित आदमीसे भी पूछ बैठा कि भाई तुमने क्या हमारी फजीहत देखी है। तो वह आदमी बोला भैया तुम्हारा क्या नाम है? वह बोला मेरा नाम बेवकूफ है। उसने कहा भाई बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतको ढूढ़ते फिरते हो। अरे जिधर ही किसीको गाली देदो उधर ही लाठी घूँसे बरस जायेंगे। इसी प्रकार जबतक ये मोही जीव हैं तबतक इनपर संकट होना प्राकृतिक बात है। मोही कहो या मूढ़ कहो दोनों का एक ही अर्थ होता है। पर मोही कहो तो सुन लेते हैं और मूढ़ कहो तो बिगड़ जाते हैं। सो भाई जबतक इस जीवके मोह है तबतक आपत्तियाँ ही हैं। आपत्तियां बुलानी नहीं पड़ती भीतरमें जो आपत्ति है वह है ममता। जब सब पदार्थ स्वतंत्र है, किसी पदार्थका कोई पदार्थ स्वामी नहीं है, फिर परस्परमें उनका सम्बन्ध मानना यह वस्तुस्वरूपके विपरीत ही तो सोचना हुआ, पर क्या किया जाय? जब तक मोहभाव है तब तक सन्मार्ग नहीं सूझता।

विषयविषकी रुचि—भैया! विषयवासनामें स्त्री पुत्रके प्रेममें ही सुख प्राणियोंको मालूम होता है। अनेक प्रकारकी बातोंसे वह अपने मोहको नहीं छोड़ सकता, क्या किया जाय? दो ढीमर और मालीकी लड़कियाँ थीं। वे परस्परमें साथ खेलें, साथ रहें। बड़ी होनेपर उन दोनोंका विवाह कर दिया गया तो मालीकी लड़की एक शहरमें ब्याही गई और ढीमरकी लड़की एक गाँवमें ब्याही गई। ढीमरका रोजिगार तो हिंसामय होता है, सो ढीमरकी लड़की मछलीका टोकरा लेकर शहर गई। शाम को जब शहरसे लौटने लगी तब उसने सोचा कि हमारी सहेली यहीं रहती है, सो हमें यहीं पर रात्रिभर आरामसे रहना चाहिए फिर प्रातः घर चली जाना चाहिए। ऐसा सोच कर वह मालीके घर पहुँची। मालीकी लड़कीने उसका बड़ा सत्कार किया। खिला पिलाकर रात्रिको आरामके लिए कोमल पलंग बिछाया। उस कोमल पलंगको सुन्दर सुन्दर सुगंधित फूलों से सजा दिया। ढीमरकी लड़की लेट गई पर उसे नींद न आई, वह उस पलंगपर करवटें ले। फूलोंकी सुगंध उसके दिमागमें भर रही थी। मालिन बोलती है क्यों सहेली क्या बात है? निद्रा क्यों नहीं आती? कहारिन कहती है कि हमें बदबू आती है इन फूलोंकी, सो निद्रा नहीं आती।

मालिन बोली ये तो बड़े अच्छे फूल हैं, इनको महाराज लोग भी तरसते हैं। ये फूल उन राजा महाराजाओं की सेजपर बिछाये जाते हैं। खैर, फूल हटाये देते हैं। फूल हटा दिये फिर भी नींद न आई। वह मछुआरिन बोली हमें इन फूलोंकी दुर्गन्ध इन कानोंमें आती और मगज भी सारा बू से भर गया सो निद्रा नहीं आती। इस दुर्गन्धसे तो दिमाग भर गया है। मालिन बोली तो फिर क्या किया जाय? वह मछुआरिन बोली कि यह मछलीकी टोकरी जो रखी है उसे यहाँ रख दो और उसके ऊपर ४-६ छींटे डाल दो। टोकरा उसने उसके पास रखा और १०-५ छींटे उसके ऊपर डाले तब उस मछुआरिन को नींद आयी। तो उस मछुआरिन सरीखे ही तो मोही जनोंका भी हाल हो रहा है, इन्हें विषयविष रुचता है, ज्ञान नहीं रुचता।

शुद्धस्वरूपकी अदृष्टि व दृष्टिका प्रताप—भैया ज्ञानकी बात पढ़ें सुनें तो स्थिरता हो सकती है। नहीं तो, झट विषय कषायोंका ख्याल आ जाता है। मोहमें, कषायोंमें चित्त स्थिर नहीं रह पाता है। द्रव्यत्वभावके अनुभव करनेमें उसे बड़ी कठिनाई मालूम होती है पर भाई जब यथार्थ, ज्ञान हो जाय, जब सत्संग अच्छा प्राप्त हो, जब अपने आपमें अनुभव कला जागृत हो तो उसे मालूम पड़ता है कि अहो मैंने अज्ञानमें अनादिसे लेकर अब तक अनन्त काल गँवा दिया। मनुष्य हुए तो मैंने अपनी आयु व्यर्थ ही पर्याय दृष्टिसे खो दिया। दूसरोंको अपना मानकर हमने तो अपना धर्म खो दिया, जो राग वाले हैं उनमें ही हमारा ध्यान लगा रहा और वीतरागताकी कला हमें न सुहाई। हम आप तो यों ही बिगड़ते रहे पर वह स्वरूप स्वतः सिद्ध ऐसा ही बना रहा। सामान्य स्वभावकी दृष्टिसे यह आत्मा ऐसा है। यह अभी राग रहित हो गया ऐसी बात नहीं किन्तु इस दृष्टिमें रागकी कल्पनाएँ नहीं। यह आत्मतत्त्व रागादिक सर्व विकारसे पृथक् है। यद्यपि जैसे सामान्यरहित विशेष नहीं है वैसे ही विशेषरहित सामान्य भी नहीं है पर स्वलक्षणपर दृष्टि दें तो ऐसा शुद्धस्वरूप नजर आता है। यह शुद्धस्वरूप की दृष्टि ही हम आपका कल्याण कर सकती है।

बन्धनका साधन अधर्म—भैया ! यहाँ प्रकरण चलरहा है कि इस जगत में और कुछ बंधन है नहीं। बंधन तो यही है कि अपना उपयोग अपनेमें न ठहरे और बाहरमें ही अपना सर्वस्व मान लिया जाय अपना उपयोग बाहर में लगा लिया जाय यही बंधन है। इसीसे विपत्तियां हैं इसके आगे न कोई बंधन है और न कोई विपदा है ऐसा अपने आपके ज्ञानसे समझकर अपनी उलझनोंको अपने आप मिटा लेना चाहिए, नहीं तो मनुष्यमें यदि यह धर्म

न हुआ तो क्या बड़प्पन रह जायगा? यदि धर्म न हुआ तो हमारी समझसे मनुष्योंसे पशु ही महान है। मनुष्यका बड़प्पन केवल धर्मसे है। धर्म शुद्ध सहज सत्य आत्मस्वरूपका ज्ञान है। धर्म है, ज्ञान है यही तो मनुष्यका बड़प्पन है। यदि धर्म न रहे और ज्ञान न रहे तो मनुष्य बड़ा नहीं है बल्कि मनुष्यसे पशु बड़ा है।

धर्महीन पुरुषकी स्थिति—देखो मनुष्यकी पशुवोंसे उपमा दी जाती है। तो पशु बड़े हुए कि मनुष्य? पशु बड़े हुए। यह मनुष्य कैसा बलवान है जैसे शेर। इस मनुष्यका चाल कैसी है? जैसे हंसकी। इस मनुष्यकी नाक कैसी है? जैसे सुवाकी नाक। इस मनुष्यका स्वर कोयलके स्वरके समान है। इस मनुष्यकी कमर सिंहकी कमरकी तरह है। देखलो, प्रत्येक बातमें मनुष्योंकी पशुवोंसे उपमा दी जाती है। तो जिससे उपमा दी जाती है वह बड़ा है कि नहीं? जैसे इसका मुख चंद्रमाकी तरह है तो चन्द्रमा बड़ा कहलाया। तो यों मनुष्यसे पशु बड़े हुए। मनुष्यका बड़प्पन तो सम्यग्ज्ञान से है। और यदि यह ज्ञान न रहे तो फिर मनुष्य बड़ा नहीं हुआ। जैसे कहते हैं ना, कि धर्मेण हीनः पशुभिःसमानः। हम आप सभी मनुष्य-मनुष्य हैं इसलिए धर्महीन मनुष्यको पशुके समान कह दिया है। ईमानदारीके भावसे तो यह कहा जाना चाहिये कि धर्महीन जो मनुष्य है वह पशुसे भी गया बीता है।

मनुष्यभवकी दुर्लभता व उपयोगिता—यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है। बड़ी कठिनाईसे यह जन्म प्राप्त होता है यह किसी तरहसे निगोदसे निकला और पृथ्वी, जल, अग्नि वायुमें पैदा हुआ। फिर असंज्ञी पंचेन्द्रियसे निकल कर संज्ञी बना, फिर जहाँसे मनुष्यको निर्वाण प्राप्त होता है उस भवमें आया जिस कुलमें तीर्थंकर आदि मनुष्य पैदा हुए उस कुलमें मनुष्य भव पाना बड़ा दुर्लभ है। यदि इस मनुष्यने अपने आपका पता न लगाया तो फिर बतलावो क्या किया? कहते हैं ना कहावतमें कि भैया कहाँ गये थे? तो बोला कि बम्बई गये थे। तो बम्बईमें क्या किया? बम्बईमें भाड़ झोंका। अरे भाई भाड़ ही झोंकना था तो गाँवमें ही रहते। इसी प्रकार कोई कहे कि अरे भाई तुमने क्या किया? तो कहा कि मैंने विषय कषाय किया। भाई! अगर विषय कषाय ही करना था तो पशु बनते, मनुष्य हो कर तो करने लायक काम यह था कि अपने आत्मस्वभावको पहिचानते इससे बढ़कर मनुष्य जन्म की सफलता का कोई कार्य नहीं है। मनुष्य ही निर्वाण प्राप्त करते हैं, मनुष्य ही एक विशिष्ट संयम धारण कर सकते है। हम आपके तो बड़ी

शक्ति है। आत्मशक्तिको पहिचानो तो यह शक्ति अपनेको आनन्दके मार्गमें ले जा सकती है।

मनुष्य भवकी श्रेष्ठता—एक कथानकमें एक कविकी कल्पना है कि जब तीर्थंकर भगवानके विरक्तता होती है तो वैराग्यके समयमें तीर्थङ्करकी सेवा में इन्द्र देव आदि सब आते हैं। और इन्द्र उस समय भगवानको वनमें ले जानेके लिए पालकी सजाते है प्रभुको आभूषण पहिनाते हैं, पालकीमें बैठाते हैं और स्वयं पालकी उठानेके लिए तैयार होते हैं। इतनेमें मनुष्य इन्द्रको रोक देते हैं। इन्द्र बोलते हैं कि हमें ही इस पालकीको उठानेका अधिकार है। जब प्रभु गर्भमें आये तो सारा गर्भकल्याणकीय प्रबन्ध समारोह हमने किया, जब प्रभुका जन्म हुआ तब जन्मकल्याणक हमने ठाठसे मनाया। अब प्रभु वैराग्यमें आये है तो हम ही प्रभुकी पालकीमें हाथ लगावेंगे तो मनुष्योंने भी अपना तर्क उपस्थित किया। अब तीसरा कोई बुद्धिमान आदमी निर्णयके लिए चुना गया। दोनोंकी बात सुनकर वह तीसरा व्यक्ति निर्णय देता है। भगवानकी पालकीका उठाने वाला वह होगा जो भगवानके साथ भगवान जैसा दीक्षित हो सके, और कोई न होगा। तब इतनी बात सुनकर इन्द्र कहता है कि हे मनुष्यो ! अपना मनुष्यत्व हमें दे दो और इसके एवजमें चाहे इन्द्रत्वकी सारी सम्पदा ले लो। देखो भैया यह मनुष्य भव कितनी अपूर्व चीज है। इस मनुष्यभवको पाया है तो इसे यों ही व्यर्थ समझ कर विषय कषायोंमें न खो दें। अपने आत्मतत्त्व पर भी दृष्टि दें, अपने आत्मतत्त्वका भी कुछ महत्त्व समझें। यदि अपने आत्मतत्त्वको न समझ सके और मोहमें ही पड़े रहे तो फिर कुछ पता न पड़ेगा।

वास्तविक शान—भैया हर एक लोग अपनी शान चाहते हैं। अरे शान ऐसी बनाओ कि अगले भवमें भी वह शान बनी रहे। शान तो वही है जो कि पर भवमें भी रहे। शान हो तो धर्मकी हो। धर्मकी शानसे ही ज्ञान और आनन्द बढ़ेगा धर्मकी शानमें अपना मन लगावो। इस जगतके दूसरे जीवोंको देख कर घमन्ड आ गया। क्रोध आ गया, लोगोंने प्रशंसा करदी यह शान नही है। इससे तो आत्माका पूरा नहीं पड़ता। धर्मसेवन ही ऐसी शान है कि परभवमें भी शान बनी रहती है। जिसके धर्मकी शान बनी रही वह स्वयं मुक्तिमें अपने आपको ले जाकर, अपनेको कर्मोंसे छुटा कर अनन्त ज्ञान एवं आनन्दका भोक्ता बना रहता है।

द्रव्य गुण, पर्यायका निर्देश—देखिये संसारमें जो कुछ दिख रहे हैं वे सब क्षणिक चीजें हैं, वे सब पर्यायें है। पर्यायोंका लक्षण समझना हो तो

इस प्रकार समझना चाहिए कि जो नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं वे पर्यायें हैं। जो कुछ दिखता है वह सब खतम हो जाने वाला है। जो नहीं दिखती फिर भी नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं, ऐसी भी पर्यायें हैं। जो ध्रुव रहता है वह द्रव्य और गुण कहलाता है। द्रव्य और गुणमें यह फर्क है कि गुण तो एक शक्तिका नाम है जो ध्रुव है और सर्व शक्तिका जो अभेदपिण्ड है उसका नाम द्रव्य है यह भी ध्रुव है। द्रव्य तथा गुण सदा रहता है, किन्तु पर्याय सदा नहीं रहता।

द्रव्य, गुण, पर्यायकी खोज—भैया! अब जरा खोज करो कि कौन पर्याय है और कौन नहीं है? हम आपसे पूछेंगे कि बतलाइए कपड़ा द्रव्य है कि गुण है कि पर्याय है। पर्याय है। आप लोग बताते जावो। दिखने वाली चीजें द्रव्य हैं कि गुण हैं कि पर्यायें हैं ? पर्यायें हैं। जो नष्ट हो जाय उस चीजको एकदम कह दो कि पर्याय है। उसमें भय खानेकी बात नहीं है। एक बालक दिखता है, यह द्रव्य है, कि गुण है कि पर्याय है ? पर्याय है। यह शरीर द्रव्य है कि गुण है कि पर्याय है ? पर्याय है। क्रोध, मान, माया लोभ ये द्रव्य हैं कि गुण हैं कि पर्यायें हैं ? पर्यायें है। जितनी भी पर्यायें होती हैं वे किसी न किसी स्वभावसे उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक पर्याय की खान एक स्वभाव हुआ करता है जैसे क्रोध, यह पर्याय है तो किस स्वभावकी पर्याय है ? चारित्रगुण की पर्याय है। जैसे भींट, यह किसकी पर्याय है। यह व्यञ्जन पर्याय है। शरीर भी परमाणुओंका व्यञ्जन पर्याय है ? और मिथ्यात्व द्रव्य है कि गुण है। पर्याय है ? पर्याय है, वह भी नष्ट हो जायगा। किसकी पर्याय है ? तो आत्मामें जो श्रद्धा गुण है उस श्रद्धा गुणके विपरीत पर्याय है। जितने भी पर्याय होते हैं वे किसी न किसी गुण के पर्याय होते है अर्थात् समस्त पर्यायें गुणसे उत्पन्न होते है।

पर्यायोंके यथार्थज्ञानका आधार—भैया! जगतके जीवोंकी परिस्थिति तो देखो कि पर्याय तो किसीसे उत्पन्न होने वाली है और मानते हैं दूसरेकी पर्याय। यही तो सबसे बड़ी भूल है। क्रोध पर्याय है तो क्रोध करने वाले आत्माके चारित्र गुणकी पर्याय है और माना क्या है कि दूसरे आत्माने क्रोध उत्पन्न किया और असली बात यह है कि मेरे चारित्र गुणसे विकाररूप क्रोध उत्पन्न हुआ दूसरेसे नहीं। दूसरोंसे लोभ, मान आदि पाप नहीं उत्पन्न होते। लोग कहते हैं कि धनसे लोभ बढ़ता है, लोभ उत्पन्न होता है पर लोभ धनका है कि आत्माका है ? जरा सही बात तो सोचो लोभ अवस्था धनमें नहीं होती है, आत्मामें होती है। धनमें तो रूप, रस, गंध स्पर्शकी अवस्था है। और, लोग

मानते हैं कि धनसे लोभ है।अरे धन से लोभ कैसे होगा ? वह तो आत्माका लोभ परिणमन है। धनसे लोभ नहीं उत्पन्न होता, आत्मा ही अपनी अवस्था से लोभ उत्पन्न कर लेता है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुणसे उत्पन्न होते हैं। यह तो है उपादानकी दृष्टि। और, उस पर्यायका कुछ भी सम्बन्ध, निमित्त भावोंसे विचाररूप आश्रयरूप अन्य हैं और उसके सम्बन्ध से कह दिया कि अमुकने क्रोध उत्पन्न किया है आदि, तो यह तो होती है निमित्त दृष्टि।

उलझन व सुलझन—जगतके जीव व्यवहार दृष्टिसे उलझ जाते हैं। उन्हें प्रथम तो स्वरूप समझना चाहिए फिर भूतार्थ शैलीसे जानना चाहिये। क्रोधका आत्माके सम्मुख कर देना कि यह इसकी पर्याय है तो जिसकी पर्याय है उसका दर्शन होता है सो वह क्रोध पर्याय द्रव्यमें विलीन हो सकता है। क्रोध उत्पन्न होता है उसको मिटानेके लिए निमित्तपर दृष्टि जाती है। इससे क्रोध और पुष्ट होता है। कषायोंसे दुःख होता है और उस दुःखको मिटानेके लिए निमित्तपर दृष्टि दी जाती है। कोई जीव किसी जीवसे अनुराग नहीं करता है। सब अपना ही अनुराग करते हैं। जो भाव बनता है वह अपना ही बनता है। जो अपमान करे वह अपना ही करता है दूसरे का नही करता है। लोकने व्यवहारमें ऐसी श्रद्धा बनाली कि एक दूसरेका अपमान करता है पर दुनियामें कोई एक दूसरेका अपमान करनेवाला नहीं है। प्रत्येक दुःखमें गलती अपनी ही हुआ करती है दूसरेकी गलती नहीं होती है। इस श्रद्धामें यदि वास्तविक बात जगा ली जाय तो बहुत सी आकुलताएं समाप्त हो जाती हैं। देख लो जब भी वेदना होती है वह अपनी गलतीसे ही होती है अमुकने हमें ऐसा कह दिया इसलिए दुःख हुआ यह बात गलत है। हमने जो अपने भावमें विरुद्ध कल्पना जगायी उसका दुःख है। किसी ने अपमान कर दिया तो किसी अन्यको दुख हो गया यह बात गलत है। कोई किसीको दुःख कहीं करता है। अपनी स्वभावदृष्टि हटायी परमें अपना उपयोग कर दिया इस कारणसे दुःख होता है। कोई कहे कि धन न होने से बड़ा दुःख है यह कितनी बेमेल बात है। परसे परमें कुछ नहीं होता। अरे धनके अभावसे कुछ नहीं होता। जो यह कल्पना बनी कि हमारे पास कुछ नहीं रहा इससे दुःख हो गया। बाह्य पदार्थोंके सद्भाव या अभावका दुःख नहीं होता है। दुःख तो अपने आपकी कल्पनासे होते हैं।

विपदाका मूल निजका अपराध—भैया ! दुःख का हेतु ही अपराध अपना है। जो अपने भावोंसे ही अपना अपराध करें तो वह बिगड़ जाता है। अपराध खुद न करें तो यह दुःखी न हो। चार चोर चोरी करने जारहे

थे। रास्तेमें एक चोर और मिल गया। पूछा उसने कि भाई कहाँ जा रहे हो ? चोरोंने कहा चोरी करने। तो कहा हमें भी साथ ले लो वह भी साथ हो गया। जब सब चोरी कररहे थे तो घरके बूढ़ेकी नींद खुल गई। चार चोर जो चतुर थे, भग गये। नया चोर वहीं रह गया। और जिसको म्यारी या टोड़ी कहते हैं। उसी पर बैठ गया। बूढ़ेने हल्ला मचाया। बहुतसे लोग इकट्ठे हो गये। कोई पूछता अरे भाई क्या ले गये ? किधरसे आये ? कितने आये ? दसोंने दसों प्रकारके प्रश्न कर डाले बूढ़ा हैरान हो गया व झुँझलाकर बोला हम कुछ नहीं जानते सब ऊपर वाला जाने। उसका कहनेका मतलब भगवानसे था, पर ऊपर बैठा चोर कहता कि हूँ,हमहीं क्यों जाने? वे जो साथ में चार और आये थे वे क्यों न जानें ? लो, वह पकड़ा गया, मारा गया। जब किसी चीजकी शल्य होती है तो आकुलताएँ ही उसके हुआ करती है। जगतके जीव जो बिगड़े हुए हैं, दुःखी हैं वे केवल अपने अपराधसे दुःखी हैं। अपने आत्मरूपको न समझसके और बाहर बाहर दृष्टि रखी इस कारण दुःखी होते हैं। अतः मोहममताकी बातोंको दूर रखें तो दुःखका नाम नहीं हैं। दुःखका अपना ही परिमन है दूसरेका नहीं है। आप यहाँ एक ऐसी शंका रख सकते हैं कि कोई आदमी बड़े अच्छे आचरणसे चलता है सदाचारसे चलता है फिर भी उसको कोई अपमानित करता है, हैरान करता है। दुःखी करता है, तो उसका क्या अपराध है ? उत्तर—वहाँ भी जो दुःख होरहा है उसमें अपराध उसका ही है। उसने अपने आत्मतत्वका अनुभव न किया और यही ध्यान बनाए रहा कि इसने मुझे हैरानी की इस मिथ्याशयसे वह दुःखी हो गया है। भाई इस हैरानीमें भी अपराध खुदका ही था। तो हम सब मोह ममताको हटाएँ और अपने आपके स्वरूपके एकाकीपन पर नजर दें तो फिर जगतमें विपत्तियां नहीं हो सकती है। जब तक अपनी बुद्धिका अपराध है तब तक ही इसको दुःख है। अपने आपका अपराध ही एक दुःख का कारण है और कोई दूसरा दुःखका कारण नहीं है। दुःख दूर होनेका उपाय व आनन्दलाभका उपाय तत्त्वज्ञान ही है । तत्त्वज्ञान आगमज्ञानसे होता है सो सर्व प्रयत्न करके आगमज्ञानमें युक्त होओ। भैया ! यह ज्ञानसंस्कार तो साथ जायगा, किन्तु न घर साथ जायगा, न परिवार साथ जायगा, न वैभव साथ जायगा न शरीर साथ जायगा। स्वभाव विज्ञान करके ज्ञानसुधारसका स्वाद लो। उससे जो आत्मसंस्कार बनेगा वह संस्कार ही मदद करेगा यहाँ के समागम कुछ मदद न देंगे। इसलिए मुमुक्षुवोंको सर्व प्रकारसे इस आगम की उपासना करना चाहिए।

अब आगे यह बतलाते हैं कि मोक्षमार्ग में सरकनेवालेका केवल एक आगम चक्षु है। देखिए इसको मोक्षमार्गमें चलने वाला न लिख कर सरकने वाला लिखा है। चलने वाले के तो मार्गमें अन्तर आता रहता है और सरकनेमें कुछ जगह नहीं छूटती। मोक्षमार्गमें ऐसा चिपट कर सरकनेवाले के मध्य में कोई जगह नहीं छूटे ऐसे मोक्षमार्गगामी उन महंत साधुजनोंका आगम ही चक्षु है।

आगमचक्खू साइ इन्दियचक्खूणि सव्वमूदाणि।
देवाय ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥

विभिन्न चक्षुयें—मुनि आगमचक्षु होतेहैं अर्थात् मुनिके मोक्षमार्गकी सिद्धि का निमित्तभूत आगम ही नेत्र होता है और सर्व प्राणियोंके इन्द्रिय रूप चक्षु हैं व देवोंके अवधिज्ञानके चक्षु और सिद्ध भगवानके सारे आत्म प्रदेशके चक्षु हैं। केवली भगवान सर्व ओर से देखते हैं। साधुता से आँखों देखी वात झूठ हो सकती है चलते रहना आगमपर निर्भर है। भगवान सिद्धदेव स्वयं शुद्ध ज्ञानमय होनेसे सर्व ओर चक्षुवाले हैं वाकी तो सभी जीव मूर्त द्रव्य में लगी हुई दृष्टि होनेसे ये इन्द्रियचक्षु इस जीवको आखोंपर बड़ा विश्वास है, कहते हैं वाह तुमने आँखों देखा है ? कैसे तुम्हारी मानलें आँखोसे बढ़ कर प्रमाणके लिए अन्य कोई गुन्जाइश नहीं। कानसे सुना तो भी झूठ कह दिया। यह तो कानों सुनी वात है तुमने देखा हो तो वतलावो। आँखों देखी वातपर बड़ा विश्वास रखते है। क्यो जी ? आंखों देखी वात भी झूठ हो सकती है कि नहीं। मानें सुनी वात तो झूठ हो सकती है उसे तो सब मान लेंगे किन्तु आखों देखी भी वात झूठ हो सकती है।

आखों देखी वातके भी झूठ हो सकने पर एक दृष्टान्त—एक कहानी है कि एक राजाका नौकर राजाका पलंग सजाया करता था बहुत बढ़िया सजाता था। उसे महीनों होगये उस पलंगको सजाते हुए। बड़ा कोमल पलंग वना हुआ था। एक डेढ़ वर्षके वादमें नौकरके मनमें आया कि देखें तो सही थोड़ा इसपर लेटकर कि कैसा कोमल है। सो उसने पलंगको विछाया सजाया और चद्दर तान कर पलंग पर लेट गया। दो मिनटको लेटनेपर एक ही मिनटमें नींद आगयी। अब वह चद्दर ओढ़े सोरहा है। इतनेमें रानीके आनेका समय आया। उसने समझा कि राजा ही लेटे हैं रोजकी तरह। सो रानी भी एक ओर चद्दर तानकर लेट गई। दोनों ही अपनी चद्दर ताने लेटे हुए हैं। अब राजाके आनेका समय आया, वह कमरेमें घुसा, देखते ही वड़ा दंग रह गया। वड़ी कल्पनाएँ हुई। क्या गजब है, दोनोंका

सिर काट दूँ। फिर सोचा कि मामला तो जानेंकि क्या है। इतना हमें क्षोभ क्यों आता है, सो सबसे पहिले रानीको जगाया। रानी यह दृश्य देखकर कि राजा तो ये हैं। यह क्या मामला है? सो अब, आश्चर्य में उठकर बोली कि राजन्! यह कौन पड़ा है आप तो यहां खड़े हैं। फिर थोड़ी देरमें उसको जगाया तो नौकर कांपरहा है उसने अपनी कथा जब सुनाई कि महाराज डेढ़ वर्ष हो गया आपका पलंग सजाते हुए; आज मनमें आया कि १ मिनटको इस पलंगपर लेटकर देखें तो सही कि कितना कोमल है। सो निद्रा आ गयी। बात जो सच होती है दिल गवाह दे देता है। सो देखो आखों देखी बात भी झूठ निकली; जो कल्पनाएँ राजा कर रहा था वे सब बातें तो नहीं थीं पर आखों देखनेमें कुछ और लगता था।

युक्तिमें उतरी बातके भी झूठ हो सकने पर एक दृष्टान्त—अच्छा यह भी छोड़ो। आखों देखी भी झूठ हो गई पर यह बतलाओ कि कानूनपर उतरी बात सांची होगी ना? वह तो आखों देखी बातसे भी अधिक प्रमाणीक होती होगी, युक्तिसे उतरी हुई बात भी झूठ हो जाती है। एक कहानी है कि एक मनुष्यके दो स्त्रियाँ थीं। पति गुजर गया। उनमें छोटी स्त्रीके लड़का था बड़ीके न था। तो बड़ी स्त्रीने न्यायालयमें यह केस पेश किया कि यह लड़का मेरा है छोटीने कहा यह लड़का मेरा है। अच्छा साहब। अब निर्णय न हो पाया, जो वकील थे वे कहते अच्छा जज साहब यह बतलाओ कि पतिके न रहने पर सारी जायदाद स्त्रीकी होती है कि नहीं? होती है तो यह लड़का भी पतिका है सो इस स्त्रीका भी हुआ। राजाने सोचा कि दो स्त्रियोंके एक लड़का कैसे हो सकता है। एक लड़केकी दो मां नहीं हो सकती है। और पतिकी जितनी जायदाद है वह सब स्त्रीकी जायदाद है। तो घर है दोनोंका, जायदाद है दोनोंकी। कुछ दिलमें सोचकर राजा बोला कि देखो भाई यह लड़का दोनों स्त्रियोंका है। इसलिए सिपाहियो इस लड़के के तलवारसे दो टुकड़े कर दो और तराजूमें तौल कर आधा आधा करके दे दो। बड़ी स्त्री खुश होरही थी। छोटी स्त्री बोली महाराज मेरा लड़का यह नहीं है, यह उसीका ही लड़का है, उसे दे दो। यह लड़का मेरा है ही नहीं। उसका भाव था कि जिन्दा रहेगा तो आखों दिखता ही रहेगा। राजा यह सुन करके सब जान गया कि यह लड़का छोटी स्त्रीका है। निर्णय भी उसने यही दिया।

स्वानुभवकी प्रमाणता—तो सबसे बड़ा प्रमाण क्या हुआ? स्वानुभव। जिसे कहते है दिलकी कसौटी याने दिलमें जो बात उतरती है, देखो दयाका

तो संबंध है हृदयसे और ज्ञानका सम्बन्ध है दिमागसे (आजकी भाषामें हम बोल रहे हैं) सो ज्ञान तो झूठा बन जायगा पर हृदयकी बात झूठ नहीं बन पाती है। इस तरह और भी अन्तरमें चल कर देखो तो निर्विकल्पस्व-संवेदनमें अनुभूत तत्त्व ही पूर्ण यथार्थ निकलता है।

संसारी प्राणियोंके इन्द्रियचक्षुष्कता—प्रकरण यह था कि भगवान अरहंत सिद्धके अतिरिक्त जितने भी प्राणी हैं वे सब मूर्तद्रव्यमें लगे हुए होनेके कारण उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योंमें फँस रही है इस कारण वे इन्द्रियचक्षु हैं पर देव आगेपीछेके दूरके द्रव्यको भी जान लेता है अवधिज्ञानके द्वारा, इसलिए वह अवधिचक्षु है। किन्तु वह देव भी उस अवधिचक्षुसे कौनसी बड़ी बात पा लेगा ? वह अवधिज्ञान भी लगाकर मात्र मूर्तिक रूपी द्रव्यको देखा करता है। सूत्रजीमें लिखा है "रूपिष्ववधेः" तो वह भी मूर्तिक रूपी द्रव्यको देख सकने के कारण इन इन्द्रिय चक्षुवाले प्राणियोंसे कोई विशिष्ट परिणामी नहीं है। वे देव भी इन भूनोंमें सामिल हैं। अतः देवभी इन्द्रियचक्षु ही हैं।

शिवसाधुकी त्रिनेत्रता—इसमें यह जानें कि मोक्षमाग में लगे हुए साधु जनोंकी आँख तो एक आगम ही है, ज्ञान ही है। कहते हैं ना कि शिव तीन नेत्रवाले थे त्रिनेत्री थे। यह शिव कौन है ? यह विकासकी ओर चल रहा आत्मा ही शिव है कल्याणरूप है। इस शिवके तीन आँखें दो आँखें तो लोगों को दिखती हैं और एक आँख ज्ञानकी है यों इनके तीन नेत्र है और तीन नेत्र वालेही विवेकी कहलाते हैं। और मात्र दो नेत्रवाले तो अंधे हैं, अविवेकी हैं। जब तक तीसरा नेत्र नहीं प्रकट होता है तब तक वह अविवेकी है ये साधु महाराज शिवरूप हैं, त्रिनेत्री हैं। महादेव भी नग्न दिगम्बर साधु थे। उनकी इतनी उत्कृष्ट साधना हुई थी कि विद्यानुवाद पूर्वकी सिद्धि होरही थी। तीसरा नेत्र उनके प्रकट होने वाला था इसलिए महादेवको त्रिनेत्री कहते हैं। त्रिनेत्री माने विवेकी। साधु महाराजके एक यह ज्ञाननेत्र प्रकट हो गया है इसलिए मोक्षमार्गमें निर्बाध विहार करते हैं।

भैया ! करुणा अपने आपकी करो कि मुझे अपने आपमें बसे हुए उत्कृष्ट ज्ञानसुधारसका कभी स्वाद लेना चाहिए जिससे सर्व संकट किसी क्षण टलें और परम आनन्दका अनुभव जगे।

विविध चक्षुष्मत्ता—भगवान सर्वज्ञ देव तो सर्वतः चक्षु हैं और देवता लोग अवधिचक्षु है। साधुजन आगमचक्षु हैं और बाकी सब प्राणी इन्द्रिय चक्षु है चक्षुका अर्थ यहां जाननेवाला है। इन समस्त संसारी जीवोंमें ये सारे के सारे मोहसे अपहृत होकर, दलकर, हत कर, पिट कर ज्ञेयमें रहते

हैं। मोहके भारसे यह प्राणी ज्ञेयमें उपयोगी बना रहता है। यही कारण है कि वह सर्वचक्षु नहीं बन सकता है। बिना किसी दूसरे साधनके बनाए मिलाये या दूसरे निमित्तके बिना ये कुछ जान नहीं पाते हैं, किन्तु क्या बात हुई। वे ज्ञेयमें रहते हैं तो रहें, ज्ञेयमें रहनेके कारण वे सर्वतः चक्षु क्यों नहीं बन पाते ? बतलाते हैं कि सर्वतःचक्षुपना शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्वेदन द्वारा होता है। और, शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्वेदनका कारण है ज्ञानमें रहना। जब यह संसारी जीव रह रहा है ज्ञेयमें तब कैसे सर्वतः चक्षु हो सकता है।

अट पट भावोंसे आत्मसिद्धि असंभव—देखो, बाहरमें कुछ भी सार नहीं है। मकानमें, न स्त्रीमें, न पुत्रमें। पर यह मोही जीव उनमें तो बसता है और जो स्वयं आनन्द और शांतिका भण्डार है ऐसे निज ज्ञानतत्त्वमें नहीं बस रहा है यदि ऐसी ही रफ्तार रही आई तो फिर यही हाल होता रहेगा जो अब तक हम आपका हुआ है। किन्तु इससे तो पूरा नही पड़ना, ऐसा कब तक चलेगा। दो तीन अनपढ़ ब्राह्मण थे। सो कहा चलो किसीको मूर्ख बनाएँ और अपना काम बनाएँ। सो एक जगह जाप करने बैठ गये। तुम्हारा जाप कर देंगे बड़ी सिद्धि होगी। बैठ गये। जानकारी तो कुछ नहीं थी। उनमें से एक यों विष्नु विष्नुस्वाहा जपने लगा। तब दूसरा "तुम जपा सो हम जपा स्वाहा" बोलनेलगा। तीसरा बोला "ऐसा कबतक चलेगा स्वाहा चौथा बोला जब तक चलेगा तब तक सही स्वाहा" तो बतलावो ऐसी मोहकी परिणतिमें हमारा भी कब तक ढला चला चलेगा।

स्वाभावतिरोभावरूप महासंकट—भैया ! और और बातोंको तो यह जीव संकट अनुभव करता है। हाय ऐसा क्यों हो गया यह इतना गजब हो गया अमुक बीमार हो गया, अमुकका वियोग हो गया इन सबको जीव संकट अनुभव कररहा है और इन्हींको संकट मानकर अपने ज्ञानस्वरूप को भूल कर बाह्य पदार्थोंमें ही लगरहा है किन्तु जो महा संकट है उसे संकट नहीं समझा तो वह क्या है ? मूढ़ है यह जीव चूंकि ज्ञेयमें लग रहा है, ज्ञानमें नहीं लग रहा है सो इसे शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्वेदन नहीं होता और इसी कारण वह सर्वतः चक्षु नहीं बन सकता है। सर्वज्ञत्व उसके सिद्ध नहीं हो सकता। यहाँ प्रश्न होता है कि आत्मा भी तो ज्ञेय है उसमें भी न लगना चाहिए ? उत्तर ज्ञेय आत्मा है, किन्तु शुद्ध आत्मतत्त्वमें लगने पर ज्ञान, ज्ञेय एक हो जाते हैं फिर वहाँ ज्ञेय की पृथक् व्यवस्था नहीं रहती है। सो यहाँ ज्ञेय का प्रयोजन है बाह्य तत्वोंसे तो ज्ञानमें न रह सकनेके कारण सर्वतःचक्षुपना इन जीवोंके सिद्ध नही हैं।

वर्तमान ज्ञानकी असंतोष्यता—केवलज्ञानके समक्ष हमारा ज्ञान समुद्रमें बूँद बराबर भी नहीं है जैसे छोटे बच्चे लोग अपनी पाई हुई बुद्धि पर गर्व किया करते हैं अपनी बालगोष्ठीमें इसी प्रकार कुछ कला जानने वाले लोग अपनी बुद्धिमानीं पर गर्व किया करते है। पर वह ज्ञान क्या है ? कुछ भी तो नहीं है। समुद्रके एक बूंदका तो हिसाब है कि यह बूँद समुद्रके संख्यातवें या असंख्यातवें भाग है किन्तु यह ज्ञान तो सर्वज्ञके ज्ञानके आगे इतना भी नहीं है। भावतः श्रमण साधुजन उस सर्वतः चक्षुपन की सिद्धिके लिए आगम चक्षु होते हैं। वह जीवन किस कामका जो जीवन ज्ञानसे ओतप्रोत न हो सके। ज्ञायक आत्मतत्त्वका ज्ञान ही ज्ञान है। और बाकी तो सब गप्प है। कोई भली गप्प है, कोई बुरी गप्प है, जो ज्ञान ज्ञानको न जाने वह ज्ञान ज्ञान नहीं। चाहे वह बड़ी वैज्ञानिकतामें बढ़ गया हो फिर भी वह ज्ञान क्या जो खुदके स्वरूपका भी अनुभव न कर सके। .

सबके ज्ञान और आनन्दकी अभीष्टता—अच्छा, बनना क्या चाहिए ? यह तो सोचो। अन्तरकी आवाजसे बतलावो तो सही आप सब दो बातें चाहते होंगे। एक तो खुदका ज्ञान बढ़ जाय यह और दूसरे खूब आनन्द हो जाय यह क्या इन दो के सिवाय और कुछ चाहते हो ? नहीं। सो ज्ञान बढ़ जाय और आनन्द बढ़ जाय इन दोनो की औपधि एक है। वह औपधि क्या है ? निजका शुद्ध सहज जैसा ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपके जाननमें लग जावो। उस ज्ञान स्वरूपके अनुभवमें अपने उपयोगको ले जावो परमाणु मात्रकी भी फिकर न करो। हिम्मत बनाये विना काम न चलेगा। सर्वस्व त्याग करना पड़ता है अपने उपयोगसे श्रद्धामें यदि ५ मिनट भी धर्म करना चाहते हो तो हिम्मत के साथ पूरी विधिके साथ करिये। बाह्य पदार्थ सब असार हैं और मोटे रूपसे देख लो, न तो कोई साथ आया और न कोई साथ जायगा और जब तक ये साथ हैं तब तक सिवाय आकुलताएँ उत्पन्न करनेके और कुछ इन परिग्रहों की कला नहीं है। तो कुछ समय इन बाह्य पदार्थोंका विकल्प तोड़ कर जरा अपने उस सहज शुद्ध आनन्दमय चिच्चमत्कारमात्र ज्ञान तत्त्वको तो देखिए। तुम्हें ज्ञान और आनन्द ही तो चाहिए।

विकल्प न तोड़नेकी बातपर एक दृष्टान्त—भैया यदि विकल्प फेंक कर निर्विकल्प स्वभावको उपयोगमें ले सको तो झूठे आनंदसे बढ़कर अनन्त आनंद मिलेगा। उस अनन्त आनन्दको क्यों मना करते हो। जैसे एक भिखारी है पाँच सात दिनकी बासी रोटी अपनी झोलीमें भरे हुए माँगता जाताहै। कभी

मिले कभी न मिले तो साथमें रखना तो चाहिए ऐसा उसका आशय है। सो ५-७ दिनकी वासी रोटी झोलीमें भरे हुए हैं। कोई गृहस्थ कहता है ये वासी रोटी झोलीमें क्यों भरे हो ? इन्हें फेंक दो हम तुम्हें ताजी पूड़ी देंगे। तुम्हें हम खूब भरपेट खिलायेंगे। भिखारीको विश्वास नहीं होता वह रोटियाँ नहीं फेंकता. क्योंकि वह समझता है कि फिर रोटियाँ कोई और न दे तो।

विषय विकल्प तोड़नेके लिए प्रेरणा—इसी प्रकार ये अनन्त कालके जूठे पदार्थों को झोलीमें लिए हुए भिखारी, इनको ज्ञानी भगवंत आचार्य देव समझाते हैं कि तू अपनी कल्पनाओंको इन जूठे भोगोंको विषयोंको फेंक दो कौनसा पुद्गल ऐसा वचा है जिसको इस जीवने अनन्त वार न पायाहो ? अरे अनन्ते वार भोगे हुए ये विषय हैं तो ये जूठे ही तो हैं। सो इन जूठे पुद्गलों को छोड़ना नहीं चाहते। आचार्यदेव समझाते हैं कि देखो तुझे अनन्त आनन्द का दर्शन कराया जायगा पर इन मोहियोंको विश्वास नहीं होता है सो एक सेकेन्ड को भी वासनाका त्याग नहीं करना चाहते। हो सके तो त्याग दो। जो हैरानियाँ अनुभव कररहे हो वे त्यागनेसे समाप्त हो जायँगी। इन ज्ञानावरणादिक कर्मोमें क्या दम है ? मैं अपने स्वरूपको सम्हालू ँ तो फिर इन जड़ पुद्गलोंमें क्या करू ँगा।

सत् और सन्तका शरण—भैया ! सकलसन्न्यासस्वरूप निजज्ञातास्वभावका भान इस जीवनमें होगया तो समझो कि यह हमारा जीवन सफल होगया है। एक यही काम न हुआ तो अन्य सव श्रम व्यर्थ है। धन जोड़ लिया जायगा तो वड़े वड़े भी तो मर गये। न कौरव रहे न पांडव रहे, न अकवर रहा, न वावर रहा और वड़े वड़े जो अभी हुए हैं वे भी कोई न रहे और, जो आज हैं हम हैं आप हैं कोई हो, न रहेंगे, चले जायेंगे क्या ले जायेंगे ? कुछ भी तो न ले जायेंगे। हम व्यर्थ अपना समय न विगाड़े। इन साधुवोंके चरण पकड़ें कहाँ पकड़ें ? ये ग्रन्थोंमें छिपे हुए साधुजन हैं। जो देख सकते हो वे देखलें वे साधुजन इन ग्रन्थोंमें ही छुपे हैं। उनकी मूर्ति, उनकी मुद्रा, उनकी चर्या यह सव इन ग्रन्थोंके अन्दर छिपी है। अन्य पदार्थोंके चरण पकड़नेसे क्या मिलेगा ? यह सव सर्वतःचक्षुपनेकी सिद्धिका कारण है। सर्वतोण्चक्षुपनेकी सिद्धिके लिए भगवंत श्रमण साधुजन आगमचक्षु होते हैं जिसके वलसे उन्हों ने ज्ञेय और ज्ञानतत्त्वको जुदा जुदा कर दिया है।

अविवेक और विवेक—वास्तवमें सर्व पदार्थ जुदे जुदे हैं, किन्तु मोहियोंके उपयोगमें ज्ञेय और ज्ञान परस्परमें सम्मिलित हो गये हैं। जैसे मूढ़ हाथीके वल तो है पर उसे खानेका विवेक नहीं है। उसके सामने हलुवा और घास

रख दो तो दोनोंको मिलाकर खायेगा। उसे खानेका विवेक नहीं उसी तरह इन मूढ़ जनोंका ज्ञेय और ज्ञान आत्म-उपयोगमें है मगर मिलाकर खा रहे हैं। ज्ञेय और ज्ञानमें विवेक नही करते हैं। ज्ञेय तो बाहर है, वह तो निज ज्ञानतत्त्वमें मिल नहीं सकता पर कल्पनामें तो ज्ञेय मिल रहा है और ज्ञान टाला नहीं जा सकता है। इस तरह ज्ञेय और ज्ञानमें परस्परमें मिश्रण होने से इसका भेद कर देना कठिन है। ऐसे दुष्कर स्व पर विभागको रचकर अपने और परके विभागको रच करके महामोहको तोड़कर, भेद करके ये श्रमणजन परम आत्माको प्राप्त करके निरन्तर ज्ञाननिष्ठ होते हुए ही रहते हैं। ऐसे आचार्योंने प्रमत्त अवस्थामें आकर ग्रन्थ प्रसाद दे कर हमपर अपार करुणा की है अरे आचार्य और क्या करें ? वे हम आपकी आत्मामें घुस तो जायेंगे नहीं। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई वश नहीं चलता पर जितना उन्होंने बताया है वह जरूरतसे भी काफी ज्यादा है।

ज्ञानमें रहना ही श्रेयष्कर है। इस कारणसे समस्त मुमुक्षु आगमकी आखोंसे ही निरखना चाहते। अब इस बातका समर्थन करते हैं कि आगम के चक्षुसे सब कुछ मिलता ही है। केवल ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनोंका विषय बहुत बड़ा बताया गया है, किन्तु केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। इस दुःखमय असार संसारमें यह मैं अशरण, अकेला, परिभ्रमण करता हूँ. भला कितना आज सुन्दर वातावरणमें हूँ। कल्पना तो करो एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवोंके भवोंमें क्या हालत है और कितने ही मनुष्य होकर भी पशुवोंकी तरह विचर रहे हैं। उन्हें कुछ सत्यपथका पता ही नहीं है। और यह कुन्द कुन्द भगवान का उपदेश और अमृत चन्द्र सूरि आदि महन्त ऋषियोंके दिए हुए ये उपदेश किस भाग्यसे पाये हैं। इन उपदेशोंमें ज्ञान और आनन्दकी प्रतिमूर्ति नजर आती है। विधिपूर्वक दृष्टि करने वालोंको दर्शन हो सकते हैं और जिसका भवितव्य अच्छा है उनको ही ये दो बातें सुहा सकती हैं।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जयेहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेणहि पेच्छित्ता तेवि ते समणा ॥२३५॥

आगम चक्षुसे सर्व ज्ञान—समस्त पदार्थ आगमसिद्ध हैं याने आगमसे ही समस्त पदार्थ जाने गये हैं। अभी यहाँ बैठने वालोंमें से अमेरिका, जर्मनी, रूस चीन किसीने देखा है क्या ? शायद किसीने देखा हो तो हम नहीं जानते, पर कैसा स्पष्ट ज्ञान है—वह है अमेरिका, इतनी दूर है, जर्मन इतनी ऊँचाई नीचाई पर है, शीत वातावरणमें है, ऐसी बातें करेंगे जैसे कोई अपनी

ससुरालकी स्पष्ट बातें करते हैं, कसर नहीं रखते हैं। अरे भाई तुमने देखा तो नहीं है फिर कैसे कहरहे हो। वाह हमने सब देखा है। काहे से ? नक्शोंसे, विवरणसे। तो यहाँ भी हम स्वर्ग नर्कोंकी, असंख्यात द्वीप समुद्रोंकी बहुत स्पष्ट बात कररहे हैं। मेरु पर्वत ६६ हजार और ४० योजन ऊँचा है और उस चोटीके ऊपर सिर्फ एक बालभरका अन्तर है वहां ऋजु विमान है। वाह कैसी प्राकृतिक रचना है कि चारों ओर श्रेणीबद्ध विमान हैं, नीचेके पटलमें प्रत्येक दिशामें ६३,६३ विमान है। और फिर इसके बाद दूसरा पटल है वहाँ ६२-६३ विमान है फिर तीसरा पटल है वहाँ ६१-६१विमान हैं। चारों ओर विदिशामें भी सिर्फ एक एक कम हैं और वहाँ भी श्रेणी बद्ध विमान हैं और अन्तिम पटल पर दक्षिण दिशामें १८ नम्बरका विमान है उसमें सौधर्म इन्द्र रहता है और उत्तरमें इतने ही दूरपर ऐशान इन्द्र रहता है रचना भी सबकी अंगुल-अंगुलमें बता दी है। यह सब ज्ञान आगम चक्षुसे ही होता रहता है।

ज्ञानकी सत्यता व ज्ञानी सन्तोंके प्रति भक्तोंकी भक्ति—और देखिए जिन को कि आप अपने दिलमें अनुभव कर सकते हैं और अपनी युक्तियोंसे पूरा उतार सकते हैं उन बातोंसे आपको उस तत्त्वमें दृढ़ श्रद्धा हुई हो तो दो बातें हम ऐसी भी अगर बतायें कि जो आपकी समझमें न आयं, अथवा परोक्ष रूप हों तोभीआपका दिल यह कहेगा कि ये बातें भी सत्य हैं। यह ही कसौटी इस आगमकी है कि वर्णित सप्त तत्त्व आदिके विषयमें रंच सँदेह नहीं होता। सब स्वरूप युक्ति व अनुभवसे सिद्ध ज्ञात होता है तब परोक्षभूत विषय भी यथार्थ हैं। आज यदि संसारके साहित्यमें से जैन साहित्य अलग कर दें तो साहित्य प्राणहीन हो जायगा। जो सिद्धान्तशास्त्र, दर्शन शास्त्र, आध्यात्मिक शास्त्रोंके मर्ममें जो पहुँच गये हैं उनकी श्रद्धासे पूछो, शास्त्रपढ़ते पढ़ते आनन्द व भक्तिसे उनकी आखें डबडबा जाती हैं और दिल यह चाहता है कि हे आचार्य देव ! जरा सामने खड़े तो रहो, तुम्हारे चरणोंमें लेटकर अपने अश्रुवोंसे आपके चरणको धो दें। ऐसी उत्सुकता जगती है। जब इस बताए हुए ज्ञानसे आत्मामें एक ज्योति जाग्रति होती है।

आगमका आभार प्रदर्शन—भैया ! बतावो अपना सब कुछ न्यौछावर किसको किया जाय ? ऐसा श्रेष्ठ कौन है वे हैं देव शास्त्र और गुरु, अन्य कोई नहीं है। सब तत्त्वआगमसे सिद्ध है। ये पदार्थ हैं, नाना प्रकारके गुण पर्याय करिके सहित हैं। ये साधुजन उन सब पदार्थोंको पहिले आगमसे देखते हैं और फिर जानते हैं। आगमके द्वारा समस्त द्रव्य ज्ञात हुआ करते हैं।

ओह सब द्रव्य कैसे ज्ञात हो जाते हैं ? तुम तो बड़ी जुम्मेदारीसे बोल रहे हो कि सब ज्ञात हो जाता। अच्छा बतलावो तखतके नीचे क्या है ? यह तो जानते नहीं और डींग मारते हैं कि आगम चक्षुसे सर्व विश्व ज्ञात हो जाता। अच्छा, शंका न करो, लो सुनो हम जान गये हैं कि इस तखतके नीचे क्या है ? कहो, बतलायें, क्या है ? पुद्गल हैं, वे रूप, रस, गंध स्पर्श मय हैं, जड़ हैं, मुझसे भिन्न है और जीव भी अनन्त बसे हैं इस तखतके नीचे आप आँखोंसे नहीं देखते होगे। आगमकी आँखोंसे दिख जायगा। इनके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल पड़ा हुआ है। यों सामान्यरूपसे प्रयोजनका पूरक सर्व विश्वका ज्ञान आगमसे हो जाता है।

आगमसे सर्व ज्ञानकी मूल विधि - अब तुम कहो कि हमने जो नाम रखा है वह नाम लेकर बतलावो। तुमने नाम धर रखा है तो हम क्या करें ? वह नाम तो तुमने विषयके प्रयोजनसे रागद्वेषसे रख लिया है। जरा अविशिष्टतर्कण होकर अर्थात उसमें तर्क न करके सामान्य स्वरूपसे देखो तो विश्व तुम्हें ज्ञात हो जायगा। जैसे कोई किसी विरक्त गृहस्थसे हाथ पकड़ कर कहे कि चलो हम तुम्हें अजायबघर दिखा दें, उसमें बहुत बढ़िया चीजें है। तो वह ज्ञानी श्रावक क्या बोलता है ? भैया हमने देख लिया। क्या देखें, अरे जड़ पुद्गल ही तो होगे। रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिन्ड ही तो होगा और क्या देखना है ? तो उसमें अपनेको अविशिष्टतर्कण बनाया और उस अविशिष्ट तर्कणाद्वारा देखो सब द्रव्य अपनी जातिमें अविरुद्ध है। हमने एक जीवको जान लिया तो संसारके अनन्ते जीवोंको जान लिया। हमने कुछ पुद्गलोंको जान लिया तो समस्त पुद्गलोंको जान लिया। इस आगम चक्षुके द्वारा सब कुछ देख लिया। सब कुछ देख कर जो प्रयोजनकी बात है ज्ञेय का हटाना और ज्ञानका स्थिर होना यही एक मात्र कर्तव्यकी बात है सो इस हितको आगमज्ञानके मूल उपायसे उत्पन्न कर लिया जाता है।

आगमकी प्रमाणता—आगमके द्वारा समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं। वे पदार्थ नाना गुण पर्याय करि युक्त हैं। कोई भी पदार्थ हो उसमें अनन्त धर्म होते हैं। उन धर्मोमें सहप्रवृत्त धर्म और क्रमप्रवृत्त धर्म ऐसे दो प्रकारके धर्म हैं याने पदार्थोमें एक ही समयमें रहनेवाला धर्म और पदार्थोमें क्रम-क्रमसे समय-समयपर प्रकट होनेवाला धर्म। जो एकसाथ होनेवाले धर्म हैं उनको गुण कहते हैं और जो क्रमसे प्रकट होनेवाले धर्म हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। ऐसे अनन्त धर्मोमें व्यापक अथवा ऐसे अनन्त धर्मोसे युक्त समस्त अर्थोको प्रकट करनेमें समर्थ अनेकांतकेतन इस आगमका मुख्य प्राण है। इस

अनेकांतमयताके द्वारा ही आगममें प्रमाणपना प्रकट होता है। यह ग्रन्थ प्रमाण है या नहीं इसकी खोज शीघ्रतासे करना हो तो इसके वर्णनमें यह देखो कि इसमें अनेकांतका पुट हैं अथवा नहीं। किसी द्रव्यके वर्णनको एकांत करके तो नहीं प्रस्तुत किया। आगमकी अनेकांतमयतासे ही प्रमाण व प्रमाणताकी सिद्धि होती है।

स्याद्वादका एक प्रयोगस्थल—अच्छा, बताओ भैया! सिद्ध भगवान मुक्त है कि अमुक्त है? मुक्त माने छूट गया। लोग मुक्त ही कहेंगे। अमुक्त कहाँ है, वह तो मुक्त हो गया है। मुक्त हो गया का अर्थ क्या है? छूट गया। काहेसे छूट गया? क्या सबसे छूट गया? शरीरसे छूट गया, घरसे छूट गया, ज्ञानसे भी छूट गया क्या? अभी आप आश्चर्यपूर्वक पूछेंगेकि ज्ञानसे कैसे छूट गया। तो ज्ञान और आनन्दसे तो मुक्त नहीं है ना? सो अमुक्त है कि नहीं? सिद्ध भगवान मुक्त भी है और अमुक्त भी है इस प्रकार इस अनेकांतमयताका यह विलास वहुत बोधको देने वाला है और चित्प्रासादको उत्पन्न करने वाला है। तो आगम प्रमाण है और आगममें उन सभी अर्थोंका वर्णन है जिनमें किन्हीमें तो युक्ति चल सकती है और किन्हींमें नहीं चल सकती है।

कुयुक्तिका निषेध—भैया! यदि कोई कुयुक्ति चलावे तो उसकी कोई चिकित्सा नहीं है, किन्तु जिन तत्त्वोंमें युक्ति सम्भव है उनको युक्तिसे भी जाना जाता है, स्वात्मानुभवसे भी जाना जाता है और बाकी परोक्षभूत विषय आगमसे जाने जाते हैं। एक चुटकुला है कि एक तेलीका बैल था जो कोल्हू में जुतता था उसने सोचा कि इस बैलके पीछे हाँकनेके लिये क्यों फिरें? इस बैलके गलेमें घंटी बाँध दें। जबतक घंटीकी आवाज सुनाई देगी तब तक समझेंगे कि चल रहा है और जब बंद हो जायगी तो अपना काम छोड़ कर हांकने आ जायेंगे। इसके पीछे हर समय तो न रहना पड़ेगा सो उसके गलेमें घंटी बाँध दिया और अपने काममें जुट गया। इतनेमें कोई समझदार आया मान लो वकील साहब आये या कोई आया और बोला कि इस बैलके गलेमें घंटी क्यों बाँध रखी? कहा साहब जब तक घंटी शब्द देगी तब तक जानेंगे कि बैल चलरहा है और जब शब्द बंद हो गया तो आकर डंडा लगा देंगे। वह समझदार बोला कि अगर बैल खड़े-खड़े ही अपनी गर्दन हिलाए तब तो तू धोखेमें पड़ जायगा। तो बोला कि जब हमारा बैल इतनी वकालत सीख जायगा तो हम दूसरा कोई उपाय निकालेंगे।

आगमद्वारा सर्व पदार्थोंकी सिद्धि—अच्छा, युक्तियाँ तो वस्तुस्वरूपके

बारे में और सात तत्त्वोंके सम्बन्धमें तो खूब सिद्ध कर लोगे, नरक और स्वर्गमें क्या युक्ति लगावोगे ? कोई पूछे कि नर्क है इसे सिद्ध करो। तो ज्यादहसे ज्यादह आप यह युक्ति देंगे कि यदि एक मनुष्य किसी दूसरे जीवको मारता है तो उसको क्या सजा दी जाती है ? फांसी। एक बार उसका मरण हो गया और कोई मनुष्य हजारों जीवोंको मारता है, सताता है तो उसको क्या दंड होगा ? उससे कई गुना दण्ड होगा। उसका दण्ड वही है नरक। कोई ऐसा अपराध है जिसमें किसी अपराधीसे हजार गुना दण्ड मिलता हो, पर स्पष्ट नहीं बता सके, यही है नरक। जिनेन्द्र देवके परमागममें वर्णित हुए ७ तत्त्व और वस्तुस्वरूपमें युक्तियाँ खूब चली और युक्तियोंसे हमने उन्हें सिद्ध किया तो ऐसे भी कुछ विषयोंमें, जो परोक्षभूत हैं इतनी श्रद्धा है कि ये भी सब सत्य हैं। समस्त अर्थ आगमसे सिद्ध होते हैं।

ज्ञेयोंमें ज्ञेयत्वकी स्वयं प्राप्ति—वे सब पदार्थ साधुजनोंके ज्ञेयपने को प्राप्त स्वयं ही होते हैं। जाननेमें कष्ट नहीं होता और कष्टकी तो बात जाने दो, जाननेको तो रंच यत्न भी नहीं करना पड़ता। स्वयं ही ज्ञान होता है। यहाँपर भी संसारी जीवोंमें जिनके जाननेकी योग्यता है उनको उस योग्यता के अनुसार ज्ञान होता है। वह भी बिना यत्नके होता है। छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानके अर्थ यत्न होता है तो एक उत्पत्तिमें होता है। जाननेका यत्न नहीं होता। जैसे पटाका फोड़ते हैं बारातमें तो आग लगाने तकका तो यत्न है, पर आग लगानेके बादमें पटाका फूटनेमें मनुष्यका क्या यत्न है ? फूटना स्वयं होता है। अपूर्व ज्ञानकी उत्पत्तिमें इन्द्रिय और मनका यत्न है पर उत्पत्तिके पश्चात् जाननेमें क्या यत्न करेगा ? वह जानन तो जीवका स्वभाव है। ये समस्त अर्थ साधुवोंको स्वयं ही ज्ञेय हो जाते हैं।

विश्वका मर्मभूत ज्ञान—भैया! नाना गुण पर्याय करि सहित समस्त द्रव्यों में व्यापक अनेकान्तस्वरूप श्रुत ज्ञानके उपयोगमें रहकर वे साधुजन बसते रहते हैं। इस कारण जो आगमचक्षु महापुरुष हैं उनके लिए कुछ भी अदृश्य नहीं है। पदार्थोंका स्वरूप और मर्म जिन्हें विदित हो गया उन्हें कुछ भी अदृश्य नहीं है। जिन्हें सिनेमाकी सारी हानियाँ देख देख कर विदित हुई हैं सो सब उन्होंने असारपना जान लिया है। उनसे कोई कहे कि भैया आज बिल्कुल नया पिक्चर आया है चलो देखें तो वे कहते हैं कि हम तो देख चुके। देखा नहीं पर कहते हैं कि देख चुके। अजी चलो, आज तो देख लें। अजी मैंने सब समझ लिया। उसमें ऐसा ही गंदापन होगा, असार काम होगा। ज्ञानी जीवसे कहें चलो जी ताजमहल बहुत सुन्दर बना हैं, उसे देख तो

आयें। तोंवह कहेगा यह कि मैंने देख लिया। तुम जावो देख आवो। मैं उसमें क्या देख लूँ। उसमें कुछ चमक होगी, दमक होगी डिजाइन होगी, और क्या होगा। वह पुद्गलका ही तो परिणमन है। उसे मैं क्या देखूँ, मैंने तो यहींसे पुद्गलका सबदेख लिया।

ज्ञानके सदुपयोगकी प्रेरणा—भैया! ज्ञानी साधुजन आगमचक्षु हैं, उन्होंने सर्व आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्वको जान लिया है। कोई पुरुष एक दो दुष्ट पुरुषोंसे हैरान हो जाय, घरके लोगोंसे, पड़ोसियोंसे हैरान हो जाय, उसे बहुत चोट पहुँचे तो वह कहता है बस हमने तो सारी दुनियाँ देखली, अरे अभी तो दो चारसे ही पाला पड़ा है सारी दुनियाँ कैसे देख ली? तो कहता है देख लिया याने मर्मके विदित हो जानेका नाम ही सबको जानना कहलाता है। आगमके द्वारा इन संतोंने वस्तुस्वरूपको जान लिया है तो उनको अब कोई भी चीज अदृश्य नहीं है। इस प्रकार गुरुदेवने इस गाथामें आगमज्ञानमें लगनेकी प्रेरणा दिलाई है। इतना क्षयोपशम प्राप्तकर लेना, इतनी प्रतिभा और बुद्धि प्रकट कर लेना बहुत बड़ी दुर्लभ चीज है। इस अवसर में निज प्रभुता का दर्शन करके इसका सदुपयोग करलें।

आत्महितके प्रयत्नका स्मरण—भैया! इस ज्ञानका उपयोग बाल बच्चों स्त्री आदि में करना अपनी कलासे बोलते रहना आदि व्यवहारमें ही अगर खो दिया तो क्या किया? जिस ज्ञानबलसे जिस योग्यतासे हम वस्तुस्वरूप में विहार कर लेते हैं, जिसके द्वारा सदाके लिए संकटोंसे छूट सकते हैं, उस ज्ञानका हमने यहाँ दुरुपयोग किया। इस ज्ञानको आगमके अभ्यासमें जुटाइए हिम्मत बनावो। चित्तमें चिंता न रखो। परिवारके लोगोंका उदय ठीक होगा तो वे भी आपके निमित्तसे ठीक हो जायेंगे और उनका उदय ठीक नहीं होगा तो आपकी चिंतासे कहीं आय न हो जायगी। किसीको शान नहीं बताना है ऐसा अपने दिलको मजबूत करो। किसे शान दिखायें? किसमें बड़ा कहलाने की बात दिखाएँ? यह सर्व जगत असार है, मायामय है। इसमें मत फंसो, आत्महितके प्रयत्न करो।

ज्ञानी पर परचेष्टाका अप्रभाव—किसीने इसकी प्रशंसाके शब्द बोल दिए तो क्या बोला। उसने अपने कषायोंसे अपनी वासनासे चेष्टा की। जानते हैं यदि आप किसी मित्रकी कोई मायाचारी तो वह मित्र आपसे बहुत प्रीति पूर्वक भी बोलता है तो भी आपपर उसका असर नहीं होता है। जब छल कपट जान गये तो उस मित्रके प्रेम बचनालापका असर न होगा। आप जानते हैं कि अभी हमारेको इसने ठेस पहुँचाया है, १० हजार का टोटा

पहुँचा दिया है, अब यह और कुछ नुकशान पहुँचायेगा सो छलके ज्ञानके कारण आपपर असर नहीं होता है। इसी तरह ज्ञानीको संतको किसी दूसरे द्वारा प्रशंसा सुननेका असर नहीं होता है आप जानते हैं कि यह तो अपने स्वार्थ से अपनेकपायोंसे अपनी चेष्टा कररहा है। यदि इसकी वातोंमें हम आ गये तो हम अपनी ज्ञान दर्शन जैसी निधिको खो देंगे।

कल्पनाजन्य क्लेश—भैया ! जैसे कि एक व्यापारीको अपने साझेदार मित्रका मायाचार या कपट मालूम होनेपर उस साझेदारका उसपर असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार जगतके सब जीवोंको सबके भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्व का ज्ञान हो जानेसे उसकी चेष्टाओंका इसपर असर नहीं पड़ता। अब अपनी वात देखो किस ओर वहरहे हो ? किस ओर जारहे हो ? कुछ अपनेको सम्हालो। जगतमें क्लेश कुछ नहीं है, आपने कोई माल खरीदा। खरीदनेके वाद उसका डेढ़गुना मूल्य हो गया सो उस दिन सुनकर वड़े खुश हुए। अब इसमें ३० हजार वच जायेंगे। और दूसरे दिन किसी कारण यह सुननेमें आ गया कि इसका पौना दाम रह गया तो दुखी हो जायेंगे। माल वही घरमें रखा है पर कल्पना ऐसी वन गई कि अव ४० हजार का टोटा आ गया ३० हजार तो मुनाफेकी कमी का और १० हजार मूल्य खुदका चला गया। यदि वह मूल्य वड़नेकी वात न सुनता, एक दम ही पोने दाम की वात सुनता तो कोई दुख न होता। चलो १० हजार ही टोटेपर रहे। कल्पनाका ही तो सारा दुःख है।

संकटरोगकी मुक्तिकी औषधि एकत्वस्वरूपका परिचय—अच्छा और देखिए घरके जो सोनेके गहने हैं सो उनमें से कोई ऐसे गहने हैं जिन्हें कभी वेचा ही न जायगा, वेचनेको नहीं वनवाया, पहिननेको वनवाया। पर उनका अच्छा भाव सुननेमें आ गया तो प्रसन्न हो गये, पहिने हुए खुश रहते है और एक ठसक वढ़ जाती है कि हम इतने धनवाले हो गये। और अगर कम भाव सुन लिया तो दुखी हो जाते हैं। अरे ये तो पहिननेके लिए वने हैं, कभी वेचना नहीं है फिर किस वातपर दुखी होते। तो ये सव दुःख कल्पना के होते हैं। इन सव दुखोंके मेटनेकी औषधि तो ज्ञान है अर्थात् आत्माके एकत्व स्वरूपका परिचय है।

संकटमोचन आत्मस्वरूप—मैं अकेला हूँ। कितना अकेला हूँ ? घर मेरा नहीं परिवार मेरा नहीं, शरीर मेरा नहीं, कर्म मेरे नहीं, रागद्वेष मेरे नहीं, नाना जानकारियोंकी तरंगे मेरी नहीं, इन सबसे सूना केवल चित्प्रकाश मात्र यह मैं अकेला हूँ। इस अकेलेमें कोई उपसर्ग नहीं, कोई वाधा नहीं। इसे

कोई छेड़ता नहीं, इसे कोई देखता नहीं। इसे कोई बुरा नहीं कहता इसे तो स्वभावसे आनन्द प्राप्त है। इसलिए इस सहज एकत्व स्वभावकी दृष्टि हो तो एक भी संकट नहीं रह सकते हैं। जब कोई संकट आते हैं तो उन संकटोंके दूर करनेकी चिकित्सा केवल एक यही की जाती है कि मैं अपने को ऐसा अनुभव लूँ कि मैं तो मात्र केवल चित्प्रकाश मात्र हूँ। घरमें कोई इष्ट गुजर जाय तो बड़ी वेदना होती है। उस क्लेशको दूर करनेका बड़ा उपाय करते हैं पर वह क्लेश दूर नहीं होता है। जब यह विचार बन जाय कि मैं तो अकेला हूँ, वह मेरा कुछ न था तब संतोप होता है। तो इस एकत्व का परिच्छेद कहाँसे हुआ? आगमसे आगमके द्वारा इस निज स्वरूपका ज्ञान हो, फिर स्वसम्वेदन हो फिर उस स्वसंवेदनज्ञानके उपयोगसे केवल ज्ञान होता है।

गुरुमूर्ति आगमका धन्यवाद—भैया! केवलज्ञान और आगम ज्ञान देव और गुरुकी तरह है। जैसे लोग कहते हैं कि गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूं पाय। बलिहारी वा गुरुकी जिन गोविन्द दिया बताय॥ केवल ज्ञानी भगवान है और है और आगमज्ञानी गुरु है, इनमें एक दम झुकाव हो, प्रीति हो। किस ओर सन्मुख होकर गद्-गद् होऊं। धन्य है आगम। धन्य है मूर्तिमान गुरुराज जिसने मुझे केवल ज्ञानका पता दिया, भगवंत सिद्धका पता दिया। इन गुरुराजकी कृपा न होती तो हमें इस अलौकिक विकासका क्या पता होता? इस गाथामें यह वर्णन हुआ कि आगम चक्षुओंसे कुछ भी चीज अदृश्य नहीं है। अब आगे यह बतलायेंगे कि केवल आगम ज्ञानसे वह सिद्धि नहीं है। किन्तु आगम ज्ञान हो और आगम ज्ञानपूर्वक तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान हो और ज्ञानश्रद्धान पूर्वक संयम हो तो तीनोंकी एकता अर्थात् तीनोंका एक साथ बर्तना ही मोक्षमार्ग है। इस प्रकारका नियम करते हैं—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणिय सुत्तं असंजदो भवदि किध समणो॥ २३६॥

पर घर और निज घर—इस लोकमें जिन जीवोंके आगमपूर्वक सिद्धि नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है उसके संयम भी नहीं है। जिनके ज्ञानपूर्वक श्रद्धान नहीं है उनका संयम क्या होगा और जिनके ज्ञान और संयम दोनों ही नहीं है वे श्रमण कैसे हो सकते हैं। मोक्षमार्गी कैसे हो सकते हैं? अहो प्रायः यह सर्व जीवलोक अपने घरसे अपरिचित है। पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धाराये। हम तो कबहुं न निज घर आए। पर घर फिरते हुए अनन्तकाल

व्यतीत हो गए। जिस शरीरको पाया उसमें ही मग्न हो गए। एक शरीर छोड़ा, दूसरा शरीर पाया, मरण हो गया। यह शरीर पर घर है। अपना निज घर तो शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मस्वभाव है। इस घरमें यह जीव न आया, इस घरका परिचय न पाया। पर घरोंका ही परिचय पाया।

पर घरकी आशक्ति—एक राजा साधूके पास बैठा, बोला महाराज! मेरा अगला भव कौन सा होगा? साधुने अवधिज्ञानको जोड़ा फिर श्रुत ज्ञानके द्वारा बताया कि तुम अगले भवमें फलाने दिन फलाने समयपर मरकर अमुक जगह पर विष्टाके कीड़ा बनोगे। राजाको यह सुन कर बड़ा दुःख हुआ। अपने लड़केसे राजाने कहा कि मैं अमुक दिन अमुक जगह अमुक समयमें विष्टाका कीड़ा होऊंगा। इसलिए तुम आकर मार डालना। ऐसी बुरी पर्याय हमें पसंद नहीं है। बच्चोने कहा अच्छा पिताजी! वैसा ही हुआ। गुजर गया पिता, उनके बताए हुए दिन समय जगह पर वह लड़का पहुँचा तो देखा कीड़ा था खासा दो तीन अंगुलका। लकड़ीसे उस कीड़ेको उस लड़के ने मारना चाहा, पर वह कीड़ा विष्टामें घुस गया। लड़का साधुके पास जाता है और पूछता है कि महाराज वे तो यों बता गये थे पर जब हम मारने गये तो वह विष्टामें घुस गया यह क्या बात है। उपदेश दिया साधुने कि यह जीव जिस शरीरमें जाता है उसमें ही उसकी आसक्ति हो जाती है।

आप बड़े सुन्दर शरीर वाले हैं और एक बूढ़ा आदमी जिसके दांत गिर गये, गाल पिचक गए, हड्डियाँ निकल आई। उसे देखरहे हो कि वह पुरुष स्वयंके अपने शरीरसे बड़ा प्रेम कररहा है। वह अपने शरीरको मलरहा है प्यार कररहा है। कोई जवान यह सोचे कि इसके शरीरसे तो बढ़िया मेरा शरीर है। यह बेवकूफ मेरे शरीरसे क्यों प्रेम नहीं करता? कैसे करलें। जिस घर गया उस पर घरमें ही यह विलमता रहा। यह मूढ़ पर घरका ही स्वाद लेना चाहता जैसे कि कोई छोटे बच्चे ऐसे होते है कि पड़ोसके घर की बासी रोटी भी उन्हें पसन्द है, खालेंगे और अपने घर की पूड़ी भी फेंक देंगे। कोई बच्चे ऐसे भी होते हैं। सो ऐसी बच्चोंकी सी आदत बना डाली है। ऐसा यह विचित्र मोही जीवलोक है।

विषयासक्तकी हिंसकता— जो भी जीव तत्वार्थश्रद्धानस्वरूप स्वाधीन दृष्टिसे रहित है उसको यह मैं स्व हूँ, यह पर है ऐसा विभाग नहीं ज्ञात हो सकता। जब स्व और परका विभाग न जान सके तो शरीर और कार्यके साथ एकताको करते हुए, मानते हुए विषयोंकी अभिलाषाको रोक नहीं सकते। जिनकी इस शरीरमें आत्मबुद्धि है क्या वे शरीरके आत्मीय विषयों को रोक सकते हैं? नहीं विषयोंमें प्रवृत्ति होगी ही जो कषायके साथ एकता

को करते हैं ऐसे पुरुष क्या विषयोंकी अभिलाषाको दूर कर सकते हैं ? नहीं, जब विषयोंकी अभिलाषा दूर नहीं होती तो छय कायके जीवोंका घात करने वाला बन जाता है। विषयाशक्त पुरुष हिंसक होता है अपने आपकी हिंसा करता ही है पर उन विषयोंकी आशक्तिमें पर जीवोंकी भी हिंसा हो जाती है। सर्व ओरसे अपनी प्रवृत्ति करते हैं। मन भी लगायें, तन भी लगायें, वचन भी लगायें, धन भी लगायें। किस लिए ? विषयोंकी पूर्तिके लिए।

विषयपूर्ति या सत्सेवा—भैया ! सभी अपने अपने घरका हिसाब लगा लो कि विषयोंकी पूर्तिके लिए कितना धन खर्च होता है और परोपकारके लिए व साधुसेवाके लिए कितना धन खर्च होता है। उसी तरह धनका भी हिसाब लगा लो। विषयोंकी पूर्तिके लिए और जिनमोही जनोंमें रह रहे हैं उनका चित्त प्रसन्न करनेके लिए कितना खर्च होता है ? परोपकारमें अथवा धर्म प्रवृत्ति में कितना खर्च होता है ? यह तो एक द्रव्य है। जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मतत्त्वकी तरफ लग गई उसका सब कुछ धर्मके लिए है और जिसकी दृष्टिमें काय और कषाय बस रही है उसका सब कुछ विषयपूर्तिके लिए है। यदि वह धर्ममें भी कुछ काम करे तो वह मनके विषयकी पूर्तिके लिए है न कि धर्मके लिए है। जिसने धर्मका स्वरूप नहीं जाना वह धर्मके लिए क्या त्याग कर सकता है, लोकमें मान रहे यह मनका विषय है, सो मनके विषयकी पूर्तिके लिए उनका त्याग होता है।

अज्ञानकी दौड़धूप—अज्ञानके कारण जब सर्व ओरसे प्रवृत्ति होने लगी तो सब तरफसे निवृत्तिका अभाव होने लगा। उपभोगकी बात कही जा रही है। उसे विश्राम नहीं मिलता, चैन नहीं मिलती, जिसको अपने घरका पता नहीं पड़ा, उसका उपयोग आहत फुटबालकी तरह यहाँ से वहाँ दौड़ लगाता रहता है। सो परमात्मातत्त्वके ज्ञानका अभाव होनेसे बाह्यमें छलांग मारता हुआ यह जीव दौड़रहा है। इस तरह ज्ञेयचक्रमें ही इसका निर्मल व्यक्तित्व खतम होता जारहा है उसमें एकाग्र प्रवृत्ति नहीं होती है तब उसमें संयम कैसे हो ? और जिसके संयम नहीं है वह समता परिणाम कहाँ से रखे ? मोक्षमार्गमें कैसे लगे ? शुद्ध आत्मतत्त्वमें एकाग्र कैसे हो ? ऐकाग्र न होनेसे उसकी सिद्धि नहीं हो सकती।

रत्नत्रयकी एकताकी सिद्धि—भैया! इस कारण आगमज्ञान भी चाहिए, तत्त्वार्थश्रद्धान भी चाहिए और संयम भी चाहिए। इन तीनोंके एकसाथ रहनेसे ही मोक्षमार्गका नियम है। तत्त्वार्थसूत्रमें प्रथम सूत्र है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ये हैं बहुवचन और मोक्ष

मार्ग: यह है एक वचन विशेष्य और विशेषण भिन्न-भिन्न वचनोंमें नहीं होते। फिर यहाँ भिन्न वचन क्यों कहा ? तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षका मार्ग है। भिन्न-भिन्न दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये मोक्षके मार्ग नहीं है। सो अब यही वतला रहे हैं कि आगमज्ञान, श्रद्धान, और संयम ये तीनों एक साथ नहीं हों तो उसमें मोक्षमार्ग नहीं प्राप्त हो सकता। इनका अयोगपथ मोक्षमार्गको खतम कर देता है।

श्रद्धानशून्य आगमज्ञानकी विफलता– यदि पदार्थमें यथार्थ श्रद्धा नहीं है तो मात्र आगमज्ञानसे कहीं सिद्धि नहीं हो जायगी ? इस मनुष्यका सारा भवितव्य श्रद्धानपर निर्भर है। जैसा श्रद्धान होगा उस प्रकारका परिणाम चलेगा। श्रद्धानशून्य आगमजनित ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती है। यह ऊपरी ज्ञान विश्वासके विना रह जाता है। मर्म पहिचाने विना ज्ञानकी कीमत वह नही है। जिससे सत्य शान्ति मिले।

मर्मबोधशून्य ज्ञानकी विफलतापर एक दृष्टान्त—एक सेठ मरते समय लड़कोंसे यह कह गया कि देखो वच्चो ! जव तुम्हें दरिद्रता सताए, तव इस मंदिरके शिखरमें धन है उसे खोद लेना। कह दिया, कोई दिन वताया। जैसे मानलो माघ वदी ग्यारस दिन, दिनके चार वजे शिखरमें धन है सो खोदलेना। सेठ तो गुजर गया। अव कई वर्षोंमें उनके गरीवी आगई। ख्याल आया कि पिताजी यह कह गये थे कि माघ वदी ग्यारसको चार वजे दिनमें इस मन्दिरके शिखरमें धन रखा है सो खोद लेना। सो वड़ा भाई माघ वदी ग्यारसके चार वजे दिनमें मन्दिरके शिखर पर चढ़ गया और शिखरको तोड़ने लगा। एक कोई धर्मात्मा पुरुष निकलता है पूछता है कि भाई तुम मन्दिरके शिखरको क्यों तोड़ रहे हो ? उस सेठका घर मन्दिरके पासमें मन्दिरसे लगा हुआ ही था। वह वोला मेरे पिताजी कह गये थे कि माघवदी ग्यारसको चार वजे दिनमें मन्दिरके शिखर पर तुम्हें धन मिलेगा सो खोद लेना। अव वह पुरुष सोचता है कि मन्दिरके शिखरमें धन होता तो माघवदी ग्यारस को क्या कैद ? जव चाहे तव निकाले और चार वजेकी क्या कैद ? अरे मूर्ख नीचे उतर वहाँ धन नहीं है हम तुम्हें वतायेंगे वह पहिचान गया सव वात। सेठके घरमें जिस जगहपर शिखरकी छाया पड़ती थी उस जगह उसने वताया कि यहां खोद लो। उसने खोदा तो धन निकल आया। तो उसके वचनोका मर्म यही था कि उस समयपर जिस जगहपर मन्दिरकी छाया पड़े धनका वह स्थान है। तो मर्म जाने विना सीधी वातका कोई

उपयोग कर लेगा तो उसे सिद्धि नहीं होती है।

श्रद्धान और अनुभवकी पुरुषार्थसाध्यता—यह श्रद्धान और अनुभव अपने पुरुषार्थ द्वारा साध्य है। इन कानोंसे तो सुनना पड़ रहा है जबरदस्ती, क्यों कि एक विचित्र बंधनसे बंधा है यह आत्मा। गुजारा आत्माका नहीं चल रहा है सो इन्द्रियों द्वारा यह सुनता है, देखता है, बोलता है, पर इस बोलनेमें, इस दर्शनमें और इसे सुननेमें आत्माका अनुभव नहीं है। यह तो एक गाली है। इस गलीसे बढ़े चले जावो आगे तो इसकी महिमाकी बात फिर मिलेगी। जब सर्व संकल्प विकल्प छोड़ कर परम विश्रामसे यह स्थित हो जाय तो स्वयमेव जैसे मुदे हुए झरनेका डाट अलग करनेसे एकदम पानी फूट निकलता है। अथवा नल होता है, पुशिङ्ग करते हुए पानी निकलने वाला उसे दबाते हैं तो पानी झट आता है। उस टोंटीने उसको रोक रखा। उस टोंटीका आवरण अलग हो जाय तो एकदम तेजीसे पानी बह जाता है इसी प्रकार संकल्प विकल्पका आवरण हट जाये तो अपने आप यहाँसे आनन्द फूट निकलता है। आनन्द पानेके लिए यत्न नहीं करना है किन्तु आनन्दके बाधक जो संकल्प विकल्प हैं वे न आवें ऐसा पुरुषार्थ करो।

एकमात्र यथार्थ पुरुषार्थ—जिस यत्नसे ये संकल्प विकल्प न आवें ऐसा पुरुषार्थ है संकल्प विकल्परहित ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका ज्ञान करना। एकै साधे सब सधै। संकल्प का त्याग करे ऐसा ख्याल और यत्न करके कोई संकल्प विकल्पको त्याग नहीं सकता है, किन्तु संकल्प विकल्परहित ज्ञानमात्र स्वभाव निज आत्मतत्त्वके ज्ञानमें सर्व संकल्प विकल्प एक साथ समाप्त हो जाते हैं। इस पुरुषार्थमें मूलबल श्रद्धानका है। भैया! दन्दफन्द अनेक लगे है किन्तु फिर भी रात दिनमें तो दो एक मिनट सबसे निराला, शुद्ध ज्ञानमात्र निज प्रभुकी स्मृति आ जाय तो सारा अहोरात्र शान्तिमें व्यतीत हो।

ठोकरोंके बाद भी चेतनेमें भलाई—ठोकरें खाते-खाते इतना तो समय गुजर गया, परवस्तुओंकी प्रीति रखते रखते इतना काल तो बीत गया। विषयोंकी प्रीतिमें कौनसा हित है? एक दो प्राणियोसे मोह करनेमें कौनसा हित है? कौनसा उत्थान है। सोचो तो सही मोहका, रागका परिणाम हो तो सब जीवोंपर बाँट दो अथवा धर्मात्माजनोंपर लाद दो किन्तु परद्रव्यामोही मलिन अज्ञानी कैसे ही हों जिनको मानलिया कि ये घरके हैं ऐसे ही दो एक जीवोमें अपना सर्वस्व लगा देनेमें कौनसी सिद्धि है? भैया! ऐसी वृत्ति हो जिस वृत्तिसे विषय कषायोंके परिणाम न उलझ सके। यह सब श्रद्धानसाध्य बात है, इसके लिए स्वको ज्ञानमात्र तकना चाहिये।

ज्ञानीके परचेष्टाके कारण क्षोभका अभाव—जगतके सभी जीव अपनेसे अत्यन्त निराले हैं। ये सभीके सभी मिल जुल कर यदि इस मायामय पर्यायों की प्रशंसा करने लगें तो भी इस आत्मतत्त्वका कुछ सुधार नहीं है, और सभी मिलकर इस मायामय पर्यायकी निन्दा करने लगें तो इस निराले ज्ञानमात्र चेतनाका कुछ बिगड़ता नहीं है। हम ही अपने स्वरूपकी दृष्टि छोड़कर वाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगाते हैं उनसे ही अपने हितकी श्रद्धा करते हैं, उनसे ही अपना वड़प्पन समझते हैं तो बिगाड़ होता है। मेरा बिगाड़ करनेकी सामर्थ्य किसी भी जीवमें नहीं। और सुधार करनेकी भी सामर्थ्य किसी अन्य जीवमें नहीं है। बिगाड़ और सुधारमें पर जीव निमित्त मात्रा तो हो सकते हैं सो जो बिगाड़का निमित्त हैं उनके प्रति मोहीका अनुराग और भक्ति है जिससे कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है? जिसके निमित्त से सुधार है उनमें अनुराग और भक्ति ज्ञानी जीवमें होती ही है। फिर भी वह अपने आपके ही ज्ञान परिणामको ठीक वनाता है तो हित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

संयमशून्य श्रद्धान ज्ञानसे भी सिद्धिका अभाव—श्रद्धान शून्य आगमसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा और इस आगमज्ञानके अविनाशावी श्रद्धानके द्वारा भी संयमशून्य साधुके सिद्धि नहीं है। आगमज्ञान हो जाय, तत्त्व श्रद्धान भी हो जाय और संयम न हो तो सिद्धि नहीं है। सर्व पदार्थोंको यह जीव स्पष्ट तर्कण कर ले पर ज्ञेयाकारोंसे करम्बित विशद जो एक ज्ञानाकार आत्मा है उसका ज्ञान न कर सके तो सिद्धि नहीं है।

मलिन अर्थमें भी स्वच्छताके ज्ञानके लिए एक दृष्टान्त—दर्पण है वह प्रतिविम्वसे ही करम्बित रहता है। कहीं भी रख दो वहीं जो चीज सामने होगी उस अनुरूप परिणम जायगी हरे रंगका भीट है या पेड़ पौधा है जो कुछभी वस्तुएँ होंगी वे सव प्रतिविम्वित हो जाएँगी। सर्व दर्पण प्रतिविम्वसे खचाखच भरा है। फिर भी जो ज्ञानी जीव होते हैं वे उस प्रतिविम्वसे मलिन उस दर्पणमें भी शुद्ध स्वच्छताका जो स्वरूप है उसकी श्रद्धा रखते हैं कि जिस स्वच्छता गुणके कारण यह सर्व प्रतिविम्व वन गया है वह स्वच्छता गुण इस ऐनाका निजी स्वरूप है।

ज्ञेयाकारकरम्बित आत्मामें भी ज्ञानाकारका दर्शन—इसी प्रकार इस ज्ञानमय आत्माके सर्व प्रदेश ज्ञेयाकारसे करम्बित हो रहे हैं। आपको कोई क्या ऐसा दर्पण मिलेगा जिसमें छाया न हो। ट्रन्कमें वन्द हो तो प्रतिविम्व आवेगा। कपड़े में पड़ा हो तो प्रतिविम्व आवेगा। ऐसा कोई दर्पण नहीं

है जिसमें छाया न हो। दर्पणका स्वरूप निजी स्वच्छता है। इसमें वह स्वच्छता है जिसके होनेके कारण छायाका भी दर्शन मिलेगा। भींटमें तो छाया नहीं पड़ जाती। इस प्रकार इस ज्ञानमय आत्माके विषयमें कहा जाय कि कुछ भी ज्ञानमें नहीं आया, हो सकेगा क्या ऐसा ?

आत्माकी थकानका कारण रागद्वेषादि विकार-- इस आत्मामें कुछ ज्ञान ही न होरहा हो या जानते जानते थक गया हो सो थकान मिटानेके लिए जानना छोड़ दे ऐसा हो सकता है क्या? कभी नहीं हो सकता है? यह आत्मा जाननेके द्वारा नहीं थकता, किन्तु इसके साथ जो राग द्वेष लगे हैं उनकी कल्पनाके कारण थक जाता है। जैसे कोई पुरुष अपने शरीरके कारण नहीं थकता, किन्तु इसका कुछ बोझ शरीरपर हो तो थक जाता है। कुछ भी ज्ञानमें आत्मा हो आने दो। खूब ज्ञानमें आने दो, सब विश्वका ज्ञान आने दो, पर ज्ञेयाकारसे करम्बित होकर भी हम अपने आपको ऐसा निहारें कि यह सब ज्ञेयाकारके परिणमनमें रहने वाला जो एक विशद ज्ञानाकार स्वच्छ जानने भाव स्वरूप है वह मैं आत्मा हूँ, यह अनुभूति हो जाय। जिस जीवको अपने आपके निज आत्मतत्त्वकी पकड़ नहीं होती है वह जगह-जगह ठोकर खाता रहता है।

जो परमार्थभूत आत्माका विश्वास नहीं करता सो उस समय उस ज्ञानस्वरूप आत्माके श्रद्धानसे रहित होनेके कारण ज्ञानमात्र आत्माका वह अनुभव नहीं कर सकता। और वह ज्ञेयनिमग्न होता रहता है, ज्ञाननिमग्न हो नहीं सकता। जिस ज्ञानस्वरूपका परिचय ही नहीं वह उसमें निमग्न कैसे हो ? जो ज्ञेयनिमग्न है वह ज्ञानविमूढ है। ज्ञानका उसे ज्ञान नहीं है। ऐसे अज्ञानी जीवके समस्त ज्ञेयोंका द्योतन करने वाला आगम भी हो तो भी वह आगम उसका क्या करेगा ? इससे यह निर्णय करो कि श्रद्धानशून्य आगमज्ञानसे सिद्धि नहीं होती है। ऐसा तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होनेके लिए कुछ अन्दरमें पुरुषार्थ करना होता है।

परमविश्रामका संकल्प—भैया ! अनुभव इतना तो है ही आप सबको कि सब जीव स्वार्थके साथी हैं। कुटुम्बके परिवारके सब लोग अपनेसे भिन्न है। किसी अन्यकी करनीसे कुछ हित अहित नहीं है। तब एक वार तो कभी सर्व प्रकारसे उनका संकल्प विकल्प त्यागकर मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप परमविश्राम तो होने दें। अरे मिठाई खाते खाते संतोष नहीं होता तो सिके चने खानेकी इच्छा तो होती है। इन परिवार जनोंसे मोह करते करते जब कुछ न मिला तो इनको छोड़कर इस सूखे रूखे आत्ममर्मके ज्ञाता रहनेकी

इच्छा तो करो। यह अज्ञानीकी दृष्टिमें रूखा सूखा है किन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें आनन्दनिधान यह स्वयं स्वरस ज्ञान स्वरूप है। इसकी रुचि करो और अपने में इसका प्रेक्टिकल उपयोग करके क्लेशमुक्त होओ।

उपयोगप्रयोग बिना आत्मप्रतीतिकी असम्भवतापर एक दृष्टान्त—एक मास्टर जी थे। उनको तैरनेकी विद्या सिखानेकी कक्षा सौंपी गई। मास्टर साहबने उन बच्चोंको तैरना सिखानेके लिए तीन चार किताबें भी तैरना सिखानेकी लेली और पढ़ाना शुरू किया। देखो बच्चो पानीमें इस तरहसे तैरा जाता है। हाथोंसे इस प्रकार झटका दिया जाता है और पैर इस प्रकार फटकारे जाते हैं। सब बातें उन्हें खूब सिखादीं। तीन माहका कोर्स था। पूरा पढ़ा दिया। अब कहा ११ तारीखको परीक्षा होगी। बच्चे लोग पहुँचे। सो नदीके किनारे सब बच्चोंको खड़ा कर दिया व कहा देखो बच्चो जिस समय वन टू थ्री कहें तो एकसाथ सब नदीमें कूद कर अपने नम्बर हासिल करना। सो वन टू थ्री कहनेके साथ ही सब नदीमें कूद पड़े। अब वे डुबकी लगाने लगे। सो वहाँ जो नाविक लोग थे वे दया करके जल्दी नाव ले करके आये। बच्चोंको पकड़ पकड़ कर बैठाया। फिर नाव किनारे लगा दिया। अब मास्टरसे नाविकने कहा कि तुमने यह क्या किया? मास्टर बोला हमने इनको तीन माह तक तैरना खूब सिखाया, खूब अध्ययन कराया। सारी बातें पूछलो, इस समय यदि कोई फेल हो जाय तो मैं क्या करूँ। नाविकने कहा मास्टरजी यह तैरनेकी विद्या किताबोंसे सिखानेसे नहीं आती। यह तो पानीमें गिरकर बतानेसे आती है, सिखानेसे आती है। ऐसी परीक्षा आप की न होगी ११ तारीखकी घबड़ायें नहीं। ऐसे ही आत्मश्रद्धान बनानेके लिए केवल पुस्तकीय अक्षर बाँचनेसे काम न निकलेगा, या मात्र उपदेश सुननेसे काम न चलेगा। चिंतन मनन अपने आपमें किया जाय तो काम बनेगा। सो श्रद्धानशून्य व अनुभव शून्य आगमसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती।

संयमशून्य श्रद्धान ज्ञानसे भी मोक्षमार्गगमनका अभाव—और भी सुनो। कोई पुरुष समस्त पदार्थोंके ज्ञेयाकारसे करम्बित (भिड़े हुए) नानारूप चित्रित इस आत्माको अनादि अनन्त नित्य अन्तः प्रकाशमान ज्ञायक स्वरूप आत्माकी श्रद्धा भी करलें व अनुभव भी कर लें किन्तु अपने आपमें संयत होकर नियत होकर स्थित होकर यदि नहीं वर्तते हैं तो अनादिकालसे लगे हुए मोह रागद्वेषकी वासनासे जो यह चिद्वृत्ति, बुद्धि परद्रव्योंमें स्वच्छन्द होकर लगी रहती है उसका निरोध नहीं हो सकता। यह चिद्वृत्ति अभी व्यभिचारिणी बनीही है अर्थात् आत्माकी लगन, आत्माकी दृष्टि, आत्माकी

ज्ञप्ति (उपयोग) अपने मालिकको छोड़कर पर मालिकमें लगे रहकर यह बुद्धि व्यभिचारिणी बन रही है। इस बुद्धिका मालिक निज आत्मप्रभु है उसकी तो यह सेवा नहीं करती, किन्तु पर मालिक अर्थात् परकी सेवा करती है। तो यह बुद्धि यह दृष्टि अपने पतिको छोड़कर अनेक परपतियोंमें लगरही है, क्योंकि रागद्वेषोंकी वासनाएं जब गई तो फिर संयमी कैसे हो सकता है। जो असंयमी पुरुष है उसको उपरोक्त आत्मतत्त्वकी प्रतीति रूप श्रद्धान भी हो अथवा यथोचित आत्मतत्त्वके अनुभवरूप ज्ञान हो उससे भी सिद्धि नहीं हो सकती है। पेट कैसे भरेगा ? अजी, ज्ञान हो जाना चाहिए कि रोटी इस तरह बना करती है श्रद्धान हो जाना चाहिए फिर पेट भर जायगा अरे ज्ञान भी हो, श्रद्धान भी हो और उसकी प्रवृत्ति न हो तब उदरपूर्तिकी सिद्धि तो नहीं होती है। यों समझ लो भैया ! सब सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकतासे ही सिद्धि हुआ करती है तो ऐसा यह निर्णय करके संयम में यथाशक्ति उद्योग होना श्रेयोमार्ग है।

संयम और सन्न्यास—जो साधु ज्ञानी भी हो और तत्त्व श्रद्धानु भी हो पर अपने आपमें नहीं रम सकता है तो वह सकलसन्न्यासी कैसे हो सकता है। निर्वासन (वासनारहित) और निष्कम्प निज आत्मतत्त्वमें बेहोश होकर रह जाना। यह है असली संयम और सकलसन्न्यास अर्थात् वही परमसंयमी है जिसे दुनियांका होश न रहे, बाहरका होश न रहे। यह अज्ञानी संसारी प्राणी बेहोश है इसे ज्ञानका होश नहीं है और यह ज्ञानी संत भी बेहोश है इसे दुनियांका होश नहीं है, यह अपने एक शुद्ध ज्ञानतत्त्वमें ही मग्न है। ज्ञानियोंके लिए ये लौकिक जन पागल नजर आते हैं तो इन लौकिक जनों को ये ज्ञानी पागल नजर आते हैं। कुछ दिमाग तो ठीक नहीं है, क्यों ये स्त्री को, छोटे-छोटे बच्चोंको छोड़ कर चले जा रहे हैं। अज्ञानियोंको ज्ञानी पागल दिखते हैं और ज्ञानियोंको अज्ञानी पागल दिखता है। अपना है कुछ नहीं और अपना मानते चले जारहे है। जिन्दगी झोंक रहे हैं, जिन्दगी झोंकने के बाद भी तो कुछ न मिलेगा। मिलेगा कुछ नहीं और खो देगा सब कुछ।

ज्ञानानुभूतिरूप पुरुषार्थकी महिमा—जो जीव श्रद्धान भी करते हैं, तत्त्व ज्ञान भी करते हैं उनके यदि आत्मसंयम नहीं है तो वह संयत नहीं। और, जो संयत नहीं है उनके आत्मतत्त्वकी प्रतीति और अनुभूतिरूप ज्ञान भी क्या करे। जैसे बेड़ीसे जकड़े हुए पुरुष बंधनमें बंधे हैं। वे बेड़ीसे अलग होनेका उपाय भी जानते हैं यह यहाँ से टूट जायगा या यहाँ से पेंच खुलनेसे कट जायगा पर ऐसा न करें तो बेड़ी तो न खुल जायगी। सर्व ज्ञान हो गया

मगर अपने निर्विकल्प ज्ञान स्वरूपके ज्ञानरूपी सुधाका स्वाद नहीं लेना चाहते है तो उनको आनन्द कहाँसे आयगा और उनके कर्मोंका क्षय कहाँसे होगा। इस कारण आगमज्ञान श्रद्धान और संयम ये तीनों एक साथ हों तो मोक्ष-मार्ग वनता है। नहीं तो मोक्षमार्ग विघटित हो जाता है। अब यह वतलाते है कि आगम ज्ञानभी हो गया और तत्त्वार्थ श्रद्धान भी हो गया, जीव,अजीव आश्रव, वंध, संवर, निर्जरा, मोक्षइन तत्त्वोंका स्वरूप भी मान लिया, संयम भी होगया। देखकर चलना, शुद्ध खाना, अनशन करना ये सव कर लिया किन्तु आत्मज्ञान नहीं है तो मोक्षमार्गमें नहीं जासकते हैं। ये तीनों वातें भी हो जायें इतनेपर भी आत्मज्ञानमें मोक्षमार्गकी साधकतमता है इस वात का इस गाथा में उजाला करते हैं।

जं अण्णाणी कम्म खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिह गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

लाखों करोड़ों भवोंमें भी अज्ञानी जीव जितने कर्मोंका क्षय करता है उतने कर्मोंका यह ज्ञानी जीव त्रिगुप्तिके वलसे एक उच्छ्‌वास मात्रमें ही क्षय कर देता है। जैसे छहढालामें कहा है ना "कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान विन कर्म झरैंगे। ज्ञानीके छिनमाँहि त्रिगुप्तितैं सहज टरे ते।

अज्ञानीके कोटिभवमें कर्मक्षय और ज्ञानीके क्षणमें कर्मक्षयकी तुलनाका विवरण—क्या अज्ञानी जीव लाखों और करोड़ो भवोमें कुछ कर्मोंका क्षय कर देता है? नहीं, एक कर्मका भी क्षय नहीं करता। फिर यह गणित कैसे लगाया कि लाखों करोड़ों भवोंमें अज्ञानी जितने कर्मोंका क्षय करे इसके तो रंच भी क्षय नही होता सो सच तो यह है कि यह हिसाव ठीक नहीं वैठता है। मुनिव्रत भी अज्ञानी जीव धारण करले तो वह कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता है। कर्म भेषसे नहीं कटते। कर्म तो शुद्ध परिणाम से कटते हैं। तो इसका अर्थ यों लगाना कि अज्ञानी जीव कर्मोंका क्षय तो नहीं करता है मगर अज्ञानी जीव कर्मोदय में तो आता रहता है ना? और कभी वालतपस्या और कठिन तपस्यायों के द्वारा भी क्रम क्रमसे जो कर्म विपाकमें आता है सो उतना तो खिर ही जाता, किन्तु रागद्वेप ग्रहण कर लेने से और सुख दु:ख आदि भावोंमें परिणाम जगनेसे फिर उन्होंने संतानको वना लिया। ऐव यह हुआ कि जितने कर्म उदयमें आये और तपस्यासे उदयमें लाकर खिराये फिर रागद्वेप करके वैसे ही और वाँध लिये मगर कुछ खिराये भी तो सो लाखों करोड़ों भवोंमें जितने कर्मों को अज्ञानी जीव निकालता है उतने कर्मों को ज्ञानी जीव जितने कि आगम ज्ञान और तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयम

इनका एक साथ वर्तना इस अतिशयके प्रसादसे शुद्ध आत्मतत्वका परिचय पाया है, ऐसा ज्ञानी जीव उसे ज्ञानके बलसे और शरीर वचन मनकी चेष्टा के निरोधसे उच्छ्वास मात्रमें एक लीलाके द्वारा पातयति मायने गिराता है

लीलामात्रमें ज्ञानीके कर्मक्षय—जैसे हाथीको एक सूढ़से बालकको गिरा देनेमें क्या श्रम पड़ता है और बालकको बालकके गिराने में बड़ा श्रम होता है। पसीना आ जाता है पर सबल हाथी मनुष्यको गिरा दे, पेड़ उखाड़ दे, यह उसकी एक लीला है। इसी तरह ज्ञानी जीव सब कर्मोको लीला मात्रसे नष्ट कर देता है। स्वतंत्र, निश्चल, निष्काम, ज्ञानमात्र निजस्वरूप के उपयोगसे ज्ञानी आत्ममग्न हो जाता है, वहाँ कर्म सारे लीला मात्रमें नष्ट हो जाते हैं। कैसे हुआ कि ज्ञानी जीवका शुद्ध परिणाममें ऐसा प्रचण्ड पुरुषार्थ होता है कि उदयमें न आये हुए कर्मोंकी स्थितिके निषेकोंमें नीचे लाकर गिरा देता है। और अनुभागको पीड़ पीड़ कर नष्ट कर देता है। कर्मोंके नाश करने के लिए इस जीव को और कुछ नहीं करना पड़ता केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपको उपयोग लगाये रहनेका यत्न होना होता है। जैसे पानीके गीलेपनके कारण कपड़ोंमें धूल चिपटती है और सूखजाय तो झड़ जाती है इसीतरह आत्मामें रागद्वेषोंकी गीलाई के कारण कर्म चिपटते हैं और वह गीलाई मिट जाय तो कर्मोका क्षय हो जाता है, कर्म खिर जाते है।

परमलक्ष्य हो जानेकी महिमा—भैया ! सर्व चमत्कार रागद्वेप भावों के दूर करने की वलिहारी है। जैसे एक वड़े रोजगार करने वाले पुरुषको मामूली छोटी चीजका नुकसान होता हो तो उसे क्या परवाह वह तो बड़े लाभ वाली बातको सम्हालता है। इसी प्रकार शुद्ध थान स्वरूपमें दर्शन के महाकार्यका उद्देश्य करने वाले साधुके किसीभी पदार्थमें रागद्वेप करने को फुरसत है कहाँ सो उसका रागद्वेप दूर हो गया, समस्त सुखदुःख आयिक विकार दूरसे ही नष्ट हो गये फिर कर्मोके संतान दुवारा नही आते।

उक्त कथनोंका उपसंहार—यह अज्ञानी जीव बालतपस्याके द्वारा कर्म फलको ला खिराता है और उतने ही कर्मोको बाँध लेता है किन्तु यह ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आयोगके प्रसादसे अपने त्रिगुप्ति परिणामके बलसे गिराकर अक्रमसे ही कर्मोका विनाश कर देता है, और चूँकि रागद्वेष मोह रखता नहीं, सुख दुःखके विकार उत्पन्न होते नहीं सो नवीन भी कर्म इसे नहीं लगते हैं। तब उस दृष्टि में गणित लगावो कि जितने कर्मोको इस अज्ञानी जीवने लाखों और करोड़ों भावोंमें उदयमें ला ला कर उदीरणामें ला ला कर खिराये उतने कर्म यह ज्ञानी जीव अन्तर मुहूर्तमें नष्ट कर देता है। इस

तरह आगम ज्ञान और तत्वार्थ श्रद्धान संयम ये तीनों एक साथ भी हो जाये तो भी मोक्षमार्ग का साधकतम आत्म ज्ञान मानना चाहिए।

मोक्षमार्गके विधानकी गवेषणा—अब जरा मोक्षमार्गका क्या कारण है इस पर विचार करे। मिथ्यात्व रागरूप जो आत्माकी वहिरात्म अवस्था है अशुद्ध अवस्था तो मोक्षका कारण नहीं वनती। और मोक्षअवस्था जो सर्वथा शुद्ध अवस्था है वह आगे आवेगी। वह तो वर्तमानमें है नहीं। और इन दोनों अवस्थाओंसे पृथक कोई अवस्था है क्या? एक वहिरात्मा अवस्था और एक मोक्ष अवस्था। उसके सिवाय तीसरी अवस्था है क्या? है। वह है अन्तरात्मकी अवस्था। वह भी मिथ्यात्व व यथासंभव रागद्वेप भावोंसे रहित है इस कारण कुछ शुद्धावस्थाहं कुछ अशुद्ध है उस अवस्थामें भी जितने अंशमें निरावरण रागादि रहितता है उतने अशसे वह मोक्षका कारण है। वहाँ पर शुद्ध पारणामिक भाव अर्थात् परमात्मद्रव्य जिसका कि परिणमन हो रहा है पर स्वयं परिणमता नहीं। उसका आश्रय मोक्ष का मार्ग है।

श्रेयका मूल परमपारिणमिक स्वरूप—उसका आश्रय मोक्षका मार्ग है। जैसे कुम्हारके चाकमें लोहेकी कीली पर सारा घुमाव चल रहा है पर वह कीली जहाँकी तहाँ ज्योंकी त्यों स्थित है एक मोटा दृष्टान्त है। इसी तरह शुद्ध ज्ञान स्वरूप ज्योंका त्यों निश्चल अनन्तानन्दमय है। पर जिसका निरन्तर परिणमन चलता रहता है वह परमात्म द्रव्य ध्येय होता है। वह अवस्थासे कथान्चित् भिन्न है। वह परमात्म द्रव्य जो शुद्ध ज्ञान स्वरूप है वहमोक्ष मार्गकी सिद्धिका कारण होता है अर्थात् अपने आपमें विराजमान अनादि अनन्त ध्रुव जो एक चैतन्य शक्ति है उस चतन्य शक्तिकी दृष्टि प्रतीत आलम्वन यही मोक्षका मार्ग है। सर्वत्र चाहे अणुव्रतका पालन कर रहा हो, महाव्रत का पालन कर रहा हो, जानन रूपमें इस शुद्ध परम पारणामिक भावका जिनका आलम्वन है उनकी मोक्षमार्गमें प्रगति है।

जैसे वालक दूसरोंसे उपद्रुत होकर अपनी मांकी गोदीमें छिप जाना चाहता है जिससे कि उसकी सुरक्षा हो जाय इसी प्रकार से यह ज्ञानोपयोग जव विपय कपाय सकल्प विकल्पोंसे उपद्रित होनेको होता है तो शीघ्र अपने परम पिता परिणामिक स्वरूपकी गोदमें छिप जाता है। फिर उस पर उपद्रव करने वाला कोई नहीं हो सकता है। उस परमपिताकी शरण गही इस ज्ञानी जीवने अतः जितने कर्मोंको अज्ञानी करोड़ भवों खिराता है उन कामों को यह ज्ञानो जीव अन्तर्मुहूर्तमें नष्ट कर देता है। तव सव कुछ हो तत्वार्थ श्रद्धान भी और संयम भी हो फिर भी मोक्षमार्गका साधता हुआ तो यह

आत्मज्ञान, ज्ञानस्वभावाश्रय।

चैतन्य महाप्रभुका परमशरण—अभी कहा गया था ना, कि अणुव्रतमें लगा, महाव्रतमें लगा, धर्म चर्चामें लगा अन्य धार्मिक समारोहोंमें लगा पर जितने अंशमें इस ध्रुव आत्मस्वभावकी दृष्टि है इस ज्ञानधन चैतन्य तत्वकी प्रतीति है, आलम्बन है, इस स्वरूपमें छुप जानेका यत्न है, मग्न हो जानेका पुरुषार्थ है उतनी ही मोक्ष मार्गमें प्रगति है। सो भैया ! अपने इस परम-हितकी साधनाके अर्थ बाह्य अर्थोंसे उपयोगको हटाओ और अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान इस चैतन्य महा प्रभुकी शरण गहो।

इन्द्रिय व्यापार समाप्तिमें संकटके अभाव पर एक उदाहरण—भैया ! बाहरसे आँख मींच लो अर्थात् इन्द्रियोंका व्यापार बन्द कर दो फिर कोई संकट ही नहीं है। एक कथानक है कि जब लक्षमण परपुराम दोनों आये, उनका सामना हुआ तो उनकी बातें बढ़ गई, गाली गलोज सा आ गया। परपुराम कहते हैं कि ऐ लक्षमण सामनेसे हट जाओ नहीं तो तुम्हारा कुशल नहीं है। तब लक्षमणने कहा—यहाँ कुम्हड़ बतिया कछु नाहीं। जे तरजनि देखि अंग कुम्हलाई॥ यहाँ कुम्हड़ेवी वतिया नहीं है जो अगुली देख कर कुम्हला जायगी, सड़ जायँगी। लोगोंके वीचमें यह प्रसिद्ध है कि जो खपरैल वाले घरके ऊपर कुम्हड़ाकी वेल छा जाती है, सो बच्चे लोग देखते हैं तो कहते कि कुम्हड़े की तरफ अंगुली न दिखावो नहीं तो कुम्हड़ेका फल सड़ जायगा। कुम्हला जायगा। ऐसी उनकी प्रसिद्ध है पर है क्या ऐसी बात ? नहीं। उसका कारण यह है कि कुम्हड़ाकी वेलमें खूब फल लगते हैं और ५० में से ५ बच पाते हैं ४५ फल अपने आप ही गल जाते हैं। ऐसा कुम्हड़ेके फलका स्वभाव है। सो गलते बहुत हैं। सो गले पर दृष्टि अधिक जाती। इससे यह कहावत प्रसिद्ध हुई है। देहातोंमें कोई पक्का मकान चुने पत्थरका नहीं बनवाता है। उनके यहाँ ऐसी प्रसिद्धि है कि चूनेका पक्का मकान बनवाओगे तो वशमें कोई न बचेगा और उदाहरण बता देते है कि देखो वह महल खड़ा है, उनके यहाँ कोई बचा नहीं, होता क्या है ? देहातोंमें गरीबके कारण कच्चे मकान बनते हैं ५०० मकानोंमें कहीं १ मकान पक्का होता है। ५०० मकानोंमें ५० मकान तो ऐसे हैं जिनमें कोई नहीं बचा और एक पक्का है उसमें कोई नहीं बचा तो चूँकि ५० मकान कच्चे थे सो मकानका नाम ही नहीं रहता था वहाँ मकान बस जाते हैं सो उन ५० मकानोंकी याद नहीं रहती है। केवल वही एक पक्का मकान याद रह गया। शहरमें सारे मकान पक्के हैं। और सबके कुल हैं। तो कुम्हड़ेकी बात

चल रही थी। लक्ष्मण कहता है कि यहाँमें कुम्हड़ेका फल नहीं हूँ जो अंगुली दिखानेसे कुम्हला जाय। और सुनो मुर्फे क्यों हटाते हो। कर विचार देखहु मन माहीं। मूदहु आँखि कतहुँ कछु नाहीं॥ मुझे क्यों हटाते हो। तुम स्वयं अपनी आँखें मूंद लो और समझलो कि मेरे आगे कुछ नहीं है। यह सभ्यताकी गाली गलौज हो। असभ्यताकी गालियोंमें तो अच्छे तवे होता है।

ज्ञानानुभवजनो विना वाह्य धर्मसाधनोंकी अकिञ्चित्करता—व्रत किया तप किया, श्रद्धान किया, शास्त्र पढ़ा। लिखे शास्त्र ही पढ़ेंगे, छापे शास्त्र न पढ़ेंगे यह भी किया। जीवोंके लक्षणभी वखानते हैं, चर्चा करते हैं, श्रद्धान है, आगम ज्ञान है और संयमकी प्रवृत्ति भी करते हैं मगर ज्ञानस्वरूप निज तत्त्व को ज्ञानसे छूनेका काम नहीं है तो कुछ काम नहीं वन सकता। इसलिए आत्मज्ञान स्वरूपको मोक्षमार्गका साधकतम मानना चाहिए। आज इसका ही अनुशासन करें कि देखो भाई आत्मज्ञान रहित पुरुषके सर्व आगमज्ञानभी हो गया तत्त्वार्थश्रद्धाभी हो गई। संयमभी हो गया तव भी सवके सव अकिंचितकर हैं।

ज्ञान विना क्रियाकी निष्फलतापर एक दृष्टान्त—ललितपुर एक शहर है जहाँ से हमारे ब्र० मोजी लाल जी आए हैं। तो वहां की क्या प्रसिद्धि है कि ललितपुर जव तक न छोड़ो जव तक मिले उधार। वहां खूव उधार मिलता था सामान। सो एक गाँवके वजाज ललितपुर चले। जाड़ेके दिन थे। रास्ते में उन्हें रात हो गई सो खेतोंकी वाड़की लकड़ियाँ वीन वीन कर एक पेड़के नीचे इकट्ठा किया और दियासलाईसे आगलगा दिया और रात भर इसी तरहसे तापकर सारीरात विता दी। सुवह होने पर वजाज चल दिये। उस पेड़ पर वैठे थे वंदर। सव हाल देख रहे थे। उन वंदरों के भी जव ठंड लगी तो सोचा कि इस तरह से हाथ पैर वाले वे मनुष्यभी थे जो रात भर इस तरहसे वैठकर जाड़ेसे वच गये। सवने कहा अपन लोग भी वही काम करें। सवने कहा ठीक। सव वन्दर चारो तरफ लकड़ी वीनने दौड़े। घास फूस वाड़ लाकर इकट्ठा कर दिया। इतना उद्यम करने पर भी ठंड न मिटी। सो एक जवान वंदर था उससे कहा अजी उन्होंने कोई लाल लाल चीज डाली थी। सो कहा अपन भी लाल चीज डालो। उस समय लाल जुगनू उड़ रहे थे। उनको पकड़ पकड़ कर उस घास फूसमें झोंका। खूव लाल लाल कर दिया फिरभी वैठे रंज कर कहें कि खूव मेहनत कर डाली फिरभी ठंड न मिटी। तो एक वूढ़ा वन्दर वोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे। वे लाल

लाल चीज डालकर इस तरह से बैठे थे। सो इस तरहसे तुम सबभी बैठ जावो। वैसे ही हाथ फैलाकर बैठ गये फिरभी ठंड न मिटी। अरे कैसे ठंड मिटे सारा श्रम कर डालो पर जो ठंड मिटानेका साधन अग्नि है वह नहीं है तो ठंड कैस मिट सकती है।

कर्मक्षयका साधकतम ज्ञानानुभव—इसी प्रकार ये तप, व्रत आगम ज्ञान तत्वार्थ श्रद्धान हो, और बड़े ऊँचे-ऊँचे धमके नाम पर सब करले पर जब तक ज्ञानस्वभावाश्रय नहीं है तब तक कर्म कैसे कटें। कर्म कटनेका साधन जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमात्र स्वच्छस्वरूपकी दृष्टि है उसे तो पकड़ा ही नहीं, उसे तो जाना ही नहीं फिर सिद्धि कैसे हो। यदि कोई कहे कि इतनी मेहनत बंदरोने की तो उतना जाड़ा न मिटता, पर रुपयेमें १ आना तो मिट जाता। परिश्रम किया तो एक आना भी जाड़ा न मिटा। इसी तरह सब कुछ कर लेने पर भी आत्म ज्ञानका उपयोग नहीं है तो इतना तो परिश्रम करते हैं, दो चार घंटे तपस्या करते हैं सो जितने ज्ञानीके कर्म कटते हैं उसका एक आना भी तो कर्म कटे जाँय सो भैया! साधकतम न होने पर कार्य कुछ नहीं होता। कर्मो के काटनेका साधन है ज्ञान दृष्टि।

कर्मसुभटोंके अलहदा होनेका कारण—ये कर्म सुभट भेषको देखकर नहीं डरते। शरीरकी क्रिया को देखकर नहीं डरते वे तो शुद्ध उपयोग होगा तो अपने अपही रुक जायेंगे। और उनकी निर्जरा होगी। तो इसी प्रकार कर्मो के विनष्ट करनेका साधन है अपने ज्ञानस्वरूपका स्पर्श। बात कठिन नहीं की जा रही है। आपकी ही बात है। इसमें कोई पराधीनता नहीं है। केवल एक नजर भर डालने का काम है। यह आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान का काम जानना। जानना क्या कहलाता है? जाननास्वरूप क्या है? उसके ही जाननेमें लग जाओ जानन्ने जाननेमें लग जावो, ज्ञानानुभव जगेगा और आत्मानुभव होगा। उस अनुभवमें ही सामर्थ्य है कि करोड़ो भवोमें अज्ञानीके जो कर्म खिरेंगे वे कर्म ज्ञानस्वरूपकी ज्ञानदृष्टिसे अन्तरमुहूर्तमें खिर जाते हैं।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिण लहदि सव्वागमधरोपि ॥२३९॥

अणुप्रमाण भी मूर्छित सर्वागम धर साधुके भी सिद्धिका अभाव—जिस जीवके देहादिक पदार्थोमें परमाणु बराबर भी मूर्छा है वह चाहे समस्त आगमका जानने वाला हो तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। यहां लिख रहे हैं कि सारे आगमका धरने वाला भी हो, लादने वाला भी हो तो भी

सिद्धिको प्राप्त नहीं होता। यहाँ सर्व आगमके मतलब जितना तक मिथ्या दृष्टिमुनिके सम्भव है चाहे समस्त आगमके सारको हाथके तल पर रखे हो, आँवलेकी तरह समस्त द्रव्य समूहको जान रहा हो। भूत, भविष्य और होने वाली अपनी ज्ञानान्वित पर्यायको जान रहा हो और आत्माको जान रहा हो, श्रद्धान कर रहा हो और संयममें भी लगा हो इस तरह आगम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयमपना ये तीनों एक साथ हो जायें तो भी मनाक भी, रंच भी मोह मलसे मलिन हुए तो शरीरादिक मूर्छासे रंगा हुआ होनेके कारण ज्ञानात्मक अपने आत्माको नहीं अनुभवता है क्योंकि उसने अपने आपमें निरपराधकी वृत्ति नहीं कर पायी।

मोह कीलित कर्म—एक परमाणुके सम्बन्धमें भी ऐसी श्रद्धा हो कि यह कुछ मेरा है कुछ भी उसमें मोह जाय अथवा उपयोग रूपसे रंच भी मोह जाये तो वह आत्माका अनुभव नहीं कर सकता है। यहाँ मनाक शब्द दिया है। जैसे आप कहते हैं ना कि तनक मनक। सो मनाक से मनक बना और तनुके तनुकसे तनक बना। तनक मनक भी राग हो तो आत्माका अनुभव नहीं होता। इतनी कसरके कारण वे उस मोह मलके कलंकसे कीलित बंधे हुए डटकर रहने वाले कर्मोंसे नहीं छूटते तब वे सिद्ध कैसे हो सकते हैं। जीवके साथ कर्म बंधे हैं, भरे पड़े हैं, खूब कई पर्तोंमें और उन पर मोहकी कीली ठुकी है तो वह कर्म ऐसे किल गये हैं कि वे कर्म अब दूर नहीं हो पा रहे हैं।

आकिञ्चन्य भाव मोहविजयका उपाय—यहाँ यह कहा गया है कि सर्व आगमका ज्ञान भी करलिया, पर देहादिक पदार्थोंमें थोड़ा भी ममत्व हो तो निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती, निश्चय रत्नत्रय रूप स्व सम्वेदन नहीं हो सकता। इसलिए श्रद्धा पूर्ण निर्मल होनी चाहिए। मेरा मात्र यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप मैं ही हूँ। इस मेरेका अन्य कोई कुछ नहीं है। कितनाभी व्यवहार बना हो, अन्य पदार्थोंमें कल्पनाका सम्बन्ध हो या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हो फिर भी परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। कल्पनाका सम्बन्ध तो यह है कि घर वैभव परिवार इनको मानलिया कि ये मेरे हैं यही तो है कल्पनाओंका सम्बन्ध और शरीरसे वेदना हुई या कर्मका विपाक हुआ उससे जो डगमगा-हट हो जाती है, क्षोभ हो जाता है, वह है निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो फिर भी इस जीवका परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। सो कोई यदि ज्यादा ज्ञान न रखता हो और एक आकिञ्चन्यभाव को ही अपना ले कि मेरा कहीं कुछ नहीं है तो वह आत्मीय आनन्दको पा

सकता है।

नैसर्गिकी निर्मलता—भैया कुछ निकट समयमें ही अपने बुजुर्ग लोग कोई बहुत पढ़े हुए न होते थे किन्तु उनका परिणाम निर्मल और शान्त होता था। तो शाब्दिक ज्ञान कर लेने से शान्ति आ जाय यह बात नहीं रही शान्ति आनेका कारण तो निर्मल है। निर्मल परिणाम बहुत आवश्यक चीज है। और वह निर्मलता आयेगी आकिञ्चन्य भावसे। मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है। ऐसा आकिञ्चिन्य परिणाम हो गया तो निर्मलता आ गई। देखिए गृहस्थको अनेक झंझटें लगी हैं फिर भी ज्ञानकी कैसी बलिहारी हैं कि इन सबके बीच रह कर भी गृहस्थ ज्ञानी अपनेमें आकिञ्चन्य भावको अनुभव करता है। मैं केवल अकेला हूँ ज्ञान तो सबका एकसा होता है मेरा तो काम जाननेका है जिसमें दुविधा है, विभिन्नता है वह मेरी चीज नहीं है वह राग है पर भाव है मेरे स्वरूपसे उठी हुई बात नहीं है।

यथार्थ जाननेकी समानता—मेरा स्वरूप जानन है वह सबका एकसा होता है। आपकी शकल है कोई मकान है, कुछ हो इसे अंग्रेज भी जानना चाहें तो जान लेंगे, उतना ही जानेंगे, और आपके परिचित लोग भी उतना ही जानेंगे। और मकानके सम्बन्धमें, यह मकान इनका है इसको सब नहीं जानसकते। जो पड़ोसी होंगे, उस रंगमें रंगे होंगे वे ही समझेंगे कि यह मकान इनका है। यदि यह मकान आपका है तो अपरिचित अमेरिकन आदि भी देखकर कहदेंगे कि यह मकान इनका है। कह देंगे क्या नहीं। क्या दूसरे देशका आकर कह देगा कि यह मकान इनका है? नहीं कह सकता है। शायद यह कहें कि मकान पर मालिकका नाम भी खुदा देंगे तब तो हर एक कोई बता देगा। बम्बई, कलकत्ताका कोई आ जाय तो क्या बता देगा कि यह अमुकका है? अच्छी बात है यह तो पट दिया, किन्तु क्या यह बता देगे कि यह नाम इनका है? नहीं। मकान पर वे शब्द लिखे हैं उन्हें पढ़ लिया पर यह तो नहीं बता पाया हाथ पकड़ कर कि यह इनका है मकान क्यों नहीं बता पाया है? नहीं उसका, सत्य बात नहीं है। जो सत्य बात होगी उसे हर एक कोई बता देगा।

आत्मश्रद्धाकी दिशा पर सुख दुखकी निर्भरता—इस आत्माका अन्य परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। इस कारण श्रद्धा पूर्ण निर्मल रखो कि जगतमें अकेला हूँ निज सहज स्वरूप मात्र हूँ ऐसा ही तो ज्ञानीका ज्ञान है। उसके ही फलमें वह बाह्य पदार्थोंमें सम्यग्ज्ञान रखता है, श्रद्धान रखता है, संयम भी करता है और इन तीनोंकी एकताके स्वरूपसे इसके प्रसादसे जो निर्वि-

कल्प अपनेको अनुभवता है वह कर्मोका दक्षय क्षणमात्रमें कर देता है। सर्व बातें ज्ञानकी इतनी हैं कि यह देखो कि तुम अपनेको क्या मानते हो? इस पर ही सब कुछ निर्भर है। यदि अपनेको मैं दो चार लड़कों वाला हूँ, मैं इस कारखानेका दूकानका मालिक हूँ, मैं घर वाला हूँ, अमुकका पति हूँ, अमुकका बेटा हूँ, अमुक जातिका हूँ, अमुक सोसाइटीका हूँ, इस रूपसे अनुभव करेंगे तो निर्विकल्पताका अनुभव न होगा। और अपनेको ऐसा अनुभव कर लिया कि यह मैं एक शुद्ध जानन मात्र हूँ, ज्ञान प्रकाश हूँ, अमूर्त हूँ। इसे कोई जानता नहीं है इससे कोई बोलता नहीं है। यह मैं गुप्त सुरक्षित अनन्त आनन्दमय हूँ, चैतन्य मात्र हूँ, ऐसा उपयोग मान लें, भीतरसे मंजूरी हो जाय तो निर्विकल्प समाधि हो सकती है।

निर्विकल्प समाधिकी समर्थता—निर्विकल्प समाधिमें ही यह सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्म उच्छ्वास मात्रसे ही कट जाते हैं जैसे कोई कारखाना खोलता है, बेचनेका कांम तो साल भर बाद करेगा और साल भर तक कैसा प्रोडक्सन हो, ठीक बने; डीजाइन आदि सब कुछ निर्धारण करने मे एक साल लगाता है और लाख रुपया उसमें फंसा देता है। एक वर्ष बाद जब बिक्रीकी घोषणा करेगा तो एक दम बिक्री हो जाती है। कोई सोचे कि आज काम शुरू करें और हिसाब लगायें कि कितना लाभ हुआ तो वहां एक कील भी न बिकेगी। तैयारी एक साल होनेके बादमें काम चला। धर्ममें भी कोई कुछ नहीं करता है। आजसे हम धर्ममें लग रहे हैं। अच्छा भाई चलो। तो आजसे ही यह हिसाब देख लिया कि कितना धर्म किया। और धर्म करने चले तो ६ माह एक वर्ष तो ऐसा हृदय बनाओ, ऐसा विवेक बनाओ ऐसा ज्ञानका पुरुषार्थ करो कि यह समझमें आ जाय कि यह मैं आत्मा क्या हूँ। और मेरा करनेका काम क्या है। इतनी बात १० वर्षमें भी समझमें आये तो एक दिनमें ही बड़ा फल पालेंगे और यह बात सारी जिन्दगी भी समझमें न आई और रोज-रोज धर्म मार्गमें भी लगे रहे तो चूंकि कषाय मंद हुई इसलिए पुण्य बंध तो हो जायगा किन्तु जिस कलाके प्रसादसे कर्म झड़ते हैं, कटते हैं, वह कला न आ पायगी मोक्षमार्ग न मिल सकेगा। सो सारा प्रयत्न करके एक यह अनुभव करलो कि परमार्थसे मैं क्या हूँ? और मेरे करनेका काम क्या है।

आत्मनिर्णयका महत्त्व—आत्मनिर्णयका काम कर लिया तो क्या यह हजार रुपयेसे बढ़कर होगी? हाँ बढ़कर तो लगता है। पर लाख रुपएसे बढ़कर तो न होगा। अरे तीन लोककी सारी सम्पत्ति इकट्ठी हो और वह

मिली हो तो उससे भी बढ़कर है। इतना अन्तरमें ज्ञान हो कि यह मैं परमार्थसे क्या हूँ और इसका स्वरसत होने वाला काम क्या है ? इसका अनुभव होना, निर्णय होना यह बात आ जाय तो इसके मुकावले तीन लोकका वैभव भी कुछ नहीं है। सो आगम ज्ञान भी हो गया। श्रद्धान भी हो गया, संयम भी हो गया किन्तु आत्मा ज्ञानका अनुभव न हुआ तो कर्म नहीं कट सकते हैं।

ज्ञान और अनुभावात्मक ज्ञान—वह अनुभव क्या है ? इसे समझनेके लिये एक दृष्टान्त जो भाई बाहुवलि जी श्रवणबेलगोल दर्शन करने न गये होंगे उन्होंने अन्दाज तो किया ही है कि वहाँ जैनवद्रीमें ऐसी मूर्ति है। जगह-जगह उसी आकारकी मूर्तियाँ देखनेको मिलती हैं। फिरोजाबादमें हैं, आरामें है, अनेकों जगह हैं उनको देखलिया और उस मूर्तिका असली फोटो भी देख लिया अन्दाज तो पूरा है। पर वहाँ जाकर जब उस मूर्तिके दर्शन करते है और वहाँ जो ज्ञान होता है उस ज्ञानमें और यहाँ रहते हुये जो फोटो और मूर्ति देखी उसके ज्ञानमें क्या कुछ अन्तर है ? हाँ अन्तर है। वहाँ अनुभव हो रहा है बाहुबलिके ज्ञानका और यहाँ अनुभवात्मक ज्ञान नहीं बना था। यह अन्तर है।

शाब्दिक ज्ञान और प्रयोगात्मकज्ञान—एक रोटी बनानेका काम आपको सिखाया कि भाई पहिले आटा गूँदा जाता है, उसे कुछ गीला गूँद कर रखना आधपौन घण्टा उसे फूलने दिया जाय जिससे उसमें छोटे-छोटे रवा व्यक्त हो जाएँ और फिर उसकी लोई वनाया। उसे इस तरह प्रसार कर तवेमें चढ़ाया एक तरफ कम सेका, दूसरी तरफ कुछ ज्यादा सेका फिर तवासे उलटकर जलते अंगरों पर रख दी जाय। कहीं पकते-पकते फूट जाय तो उसे चीमटेसे दवा दिया जाय। सारी बातें सिखादी। ज्ञान होगया तो अब आधासेर आटा, रोटी बनावो बनाने बैठोगे तो आफत पड़ेगी। क्यों ? यों कि उसका अनुभवात्मक ज्ञान नहीं हुआ। तो उसी प्रकार आत्माकी भी बात है। एक मौखिक ज्ञानसे चले आत्मा अमूर्त है इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। ज्ञान दर्शन रूप है। मानलिया पर जैसे दूसरे की चर्चा कर लेते हैं ना इसी तरह यह भी चर्चा कर लेते हैं।

अनुमानिक ज्ञान और अनुभावात्मक ज्ञान—या दूसरोंका बुखार देखा, थर्मामीटरके विज्ञान उतारा, काँखमें लगा दिया, दो मिनट लगानेसे यह थर्मामीटर काम करना है। देखकर वता दिया अजी १०१ डिग्री बुखार है। ज्ञान हो गया और खुदमें १०१ डिग्री बुखार आ जाय वहाँ भी बुखारका

ज्ञान होता है ।

उस ज्ञानमें और उस ज्ञानमें अन्तर हो गया कि नहीं ? हो गया। वहां भी अन्तर जान लिया कि १०१ डिग्री बुखार यहां भी जान लिया कि १०१ डिग्री बुखार । और न जान पाते तो भी अन्तर है । उसके बुखारका तो ज्ञान हुआ और अपने बुखारका अनुभवात्मक ज्ञान हुआ । इसी प्रकार आत्माकी बात समझलो । ज्ञान दर्शन रूप है, चैतन्य स्वरूप है ज्ञान हो गया पर जब कभी संकल्प विकल्प जाल टूटे और यह अपनेमें विश्राम करे और केवल ज्ञान ज्योतिरूपसे अपनेमें अनुभव जगे वहां बड़े वेगसे निराकुलताका प्रवाह वह उठता है । सो निराकुलताके आनन्दसे ही मुक्ति होगी । वहां जो आत्माकी बात जाननेमें आयी वह है अनुभावात्मक ज्ञान ।

अनुभावात्मक ज्ञानसे निःशङ्क वृत्ति—अनुभावात्मक ज्ञानसे सिद्धि होती है, आगम ज्ञानसे सिद्धिका नियम नहीं है अच्छा एक मोटा अन्दाज करलो, लौकिक कामोंमें जिसको कामका परिचय हो और उसे किसीके प्रति कुछ संदेश देनेको कहा जाय तो वह सब बातें बड़े अच्छे ढंगसे कर लेगा और जिसे कामका परिचय नहीं है उसे १०-१५ मिनट खूब समझाएँ पहिले देखो यों कहना, फिर यों कहना । यों उत्तर आवे तो यों कहना खूब समझा दिया तो भी वहां जाकर ठीक नहीं बन सकता क्योंकि कार्यका परिचय नहीं है। तो अनुभवात्मक ज्ञान जब होता है तब आत्मामें निराकुलताकी सिद्धि होती है और एक बार अनुभव हो जाय तो फिर बार-बार के लिए वह काम सुगम हो जाता है । उसके योग्यता हो गई । जिनका भवितव्य सुन्दर है उनके तो यह कला उत्पन्न हो जाती है ।

ज्ञानानुभूतिके मोक्षमार्गपना—ज्ञानानुभूति आये बिना मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं है । यदि मोक्षमार्ग न पाया तो फिर मनुष्य जन्म पाकर क्या लाभ उठा लिया । कुछ भी तो लाभ न पाया । यहां भी तो सब जन्म मरणके फेरे हैं यहां जो है वे भी मलीमस है, दुःखी हैं, कर्म भारके लदे हैं । इनसे अपनेको अच्छा कहलवा लिया तो कौनसा काम कर लिया ? ये सब तो लौकिक बातें हैं । ऐसी दृष्टि बनाओ कि मोक्ष मार्गकी प्राप्ति हो ।

अनुभवके कारण जागृत हुए बोधकी समीचीनता पर एक दृष्टान्त—बुन्देल खण्ड में एक राजा थे, छत्रसाल हो या और कोई हो । उसके पिता गुजर गये । नाबालिका रह गया । तो पहिले गवर्नमेण्ट के एजेण्ट रियासतका प्रबन्ध करते थे । सो उस नाबालिका के राज्यको गवर्नमेंटके एजेन्टने अपने देखरेखमें ले लिया । अब जब बालिग हो गया तो सूचना दी कि मेरा राज्य

दे दिया जाय। तो एजेन्टने परीक्षा करनेके लिए बुलवाया तो उस राजपुत्रकी माँ सिखाती है उसे कि देखो बेटा महाराज ऐसा पूछें तो ऐसा उत्तर देना और यह पूँछें तो यह उत्तर देना। प्रजाके प्रति व्यवहार कैसा हो, प्रजाके प्रति कैसा व्यवहार हो? ऐसा प्रश्न करे तो ऐसा उत्तर देना यों पूछें तो यों बताना। दसों बातें बता दी। राजपुत्र पूछता है कि माँ! इन दसों बातोंमें से एक भी बात न पूँछें तो? माँ कहती है। बेटा अब कुछ डर नहीं है। तुम अब अवश्य उत्तर दे दोगे। जब तुम्हें सिखाने पर यह तर्कणा हो गई कि यदि इनमेंसे एक भी न पूछें तो। तो जिस बुद्धि बलसे यह तर्कणा उठी है वही बुद्धि बल तुमसे जवाब दिला देगा। खैर राजपुत्र एजेन्टके पास चला गया। महाराजाने उसका क्या किया? उस राजपुत्र के दोनों हाथ पकड़ लिया। कहा बेटा अब क्या करोगे बोलो। अब तो तुम मेरे पूरे बंधन में हो। लड़के के बुद्धि आयी। बोला अब क्या है? पुरुष स्त्रीका एक हाथ पकड़ता है भांवर के समयमें तो उस पुरुषको जिन्दगी भर उस स्त्रीकी फिकर रखनी पड़ती है। निभाना पड़ता है। यहाँ तो अपने दोनों हाथ पकड़ लिया अब भय क्या रहा? अनोखा जवाब सुनकर हुक्म दे दिया कि इसका राज्य दे दिया जाय। यह योग्य हो गया।

दृष्टिकी निर्मलताका प्रसाद—भैया! जब दृष्टि निर्मल होती है तो वे सब बातें स्वयं अनुभवमें आती है। और जब दृष्टि मलिन होती है तब भली भी बात समझमें नहीं आ सकती। दृष्टि निर्मल करने के लिए यह कहा जा रहा है परमाणु मात्रमें भी मूर्छा न रखो। श्रद्धानमें यह समझोकि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। यदि ऐसा आत्मज्ञान न जगा तो दृष्टिकी निर्मलता न हुई तो आगम ज्ञान भी हो, तत्वार्थ श्रद्धान भी हो, संयम हो सब एक साथ हो जाएं तो भी आकिन्चन्यभाव नहीं होनेसे सिद्धि नहीं है। अब यह बतला रहे हैं कि आगम ज्ञान तत्त्वश्रद्धान और संयम इन तीनों की एकता हो, इतने के साथ-साथ आत्मज्ञान भी हो तो उससे सिद्धि होती है।

पंचमसमिदो तिगुत्तो पंचिंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥२४०॥

जो पंच समितिका पालन करने वाले हैं, तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवाले हैं और पंचेन्द्रियसे सम्वृत हैं, जिन्होंने कषायोंको जीत लिया है, जो दर्शन और ज्ञानमें मग्न है ऐसा जो श्रमण है वही संयत कहा गया है।

आगमबलके शुद्धचर्याकी साधकता—जो आगमके बलसे आत्माकी श्रद्धा करनेवाला हो, अनुभवन करनेवाला हो, और आत्मामें स्थिरताकी वृत्तिको

रखने वाला हो, या चाहनेवाला हो वह पुरुष कितने ख्यालोंका निवारण करता है उसका वर्णन आयगा। आगमज्ञान कैसे होता है जिसके पालनसे यह साधू उन विषय कषायोंका क्षय करता है? वह आगम है अनेकांतकेतन। अनेकांत ही एक जिसकी ध्वजा है अनेकांतके उपयोगके बिन। न व्यवहार चल सकता है और न मोक्षमार्ग चल सकता है। अभी बहुतसा वर्णन निकल चुका है। उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्गमें मैत्री होती है यह अनेकांतका ही तो संकेत है। और आत्माका स्वरूप क्या है? इसे जानना है तो अनेकांत पद्धति से ही तो जान सकते हैं। किसी भी वस्तुको हम अनेक प्रकारसे जानते है तब वह ज्ञानमें आता है। सो इस आगमज्ञानके बलसे समस्त पदार्थोंके ज्ञेयाकार रूपसे प्रतिबिम्बित हुए और विशद निर्मल जो एक ज्ञानकार है उस ज्ञानाकार स्वरूपकी श्रद्धा करते हुए अनुभवन करते हुए, आगम और आत्मामें ही स्थिरताकी इच्छा करते हुए यह साधु कैसी-कैसी परिणति करता है? उसको सिर्फ यहाँ थोड़े शब्दमें कह दिया है कि एक संयमका पात्र बन गया है।

साधुशरीरको संयमपात्र कहनेका रहस्य—यों अलंकारमें कहा जा रहा है कि साधुशरीर संयमपात्र है जैसे किसी पात्रमें कोई वस्तु रखें तो वह पात्र भरा होता है इसी प्रकार साधुका शरीर संयम से भरा हुआ है। संयमका पात्र है। संयमका सा घनीभूत शरीर है सो ५ समितियोंके अंकुशमें प्रवृत्त बनाया है। चलते तो स्वच्छन्द नहीं चलते, शरीरको संकोचकर चलते। आगे निहारकर जीवरक्षा करते हुए चलते, बोलते तो हित मित प्रिय वचन बोलते कभी इनके विरुद्ध बोलना बन जाय तो उसका प्रायश्चित्त लेते। किसी भी व्रतके विरुद्ध कोई चेष्टा हो, जाय तो प्रायश्चित्त से शुद्धि करें, निर्दोष आहारलें, चीजोंको धरें उठायें तो देख भाल कर जिससे कि धरने उठाने में किसी जीवकी हिंसा न हो। मलमूत्र क्षेपणकरें तो बिना देखे नहीं जमीन को देखकर कि नीचे कोई जीव जन्तु तो नहीं है। ऐसे अंकुशसे साधुका शरीर संयमपूर्ण रहता है।

साधुवृत्तिके ज्ञानसे शिक्षाग्रहण—साधुवोंकी वृतिको जानने से हमें शिक्षा ग्रहण करते रहना चाहिए कि ओह! कल्याणका मार्ग तो यह साधु मार्ग है। निरपेक्षमात्र आत्मचिंतन ही कल्याण का मार्ग है जिस किसी भी अन्य चीजमें अपने उपयोग को बसा कर विकल्प करते हैं वहकोई चीज मेरे को शरण नहीं है, मेरा हितकर सकने वाली नहीं है इसलिए बाह्य विभूतिको एक पुण्योदय पर छोड़ दो। जैसा उदय होगा, आयगा। अन्तरमें करनेका

कार्य तो आत्म दृष्टि है आत्मज्ञान है आत्मरमण है । ऐसा ध्यान साधु सत्संगसे या साधुकी चर्या सुनकर वनता है । यही उपासनासे लाभ है ।

साधुका इन्द्रियनिरोध व्रत—वे साधुजन अव क्रम-क्रमसे अपने पंचेन्द्रियके द्वार को निरुद्ध करते हैं । भेद विज्ञानके प्रतापसे उनको शरीरके किसी भी विषयमें राग नहीं है पर जीवनका साधन वनानेको वे आहार करते हैं । वे इन पंचेन्द्रियके द्वारका ही निरोध करते हैं । उनके लिए घृणाकी वस्तु है तो पाप है । वाह्य पदार्थ कोई घृणाके योग्य नहीं है । वे सव पदार्थोंके ज्ञाता दृष्टा रहते है । लौकिकजन जिन बातोंमें रमा करते है वे वातें उनके सुनने योग्य नहीं हैं । साधुजन यदि कुछ सुनना चाहते हैं तो जिससे आत्मा की स्मृति बने ऐसे शव्दो को ही सुनना चाहते है । वे किसी भी वस्तुको राग-भरी दृष्टिसे नहीं देखते हैं । यदि कुछ अनुरागसे देखना चाहते है तो प्रभुमुद्रा जिन वाणी के अक्षर साधर्मीका सत्संग इनको ही देखनेका उनके अनुराग है और किसी भी विषयको देखनेका राग नहीं हैं । यह भी अनुराग अनुराग के कारण नहीं है किन्तु अपने आत्मतत्वकी शुद्धिके कारण है । इसी प्रकार रसना इन्द्रियसे भोजनके स्वादका ज्ञान भी होता ह पर इस स्वादमें राग नहीं करते हैं । उन्हें रागसे प्रयोजन नहीं । वे तो रागसे हटे हुए रहना चाहते हैं । स्पर्शन इन्द्रियकी तो कल्पना ही नहीं होती है । ऐसी पंचेन्द्रियके विपय का उनके निरोध रहता है ।

कायगुप्तिकी मुद्रा—मन, वचन, कायका व्यापार उनके विश्रांत हो जाता है । प्रभुकी मुद्रासे वही तो दृष्टिगत होता है । हे प्रभो ! आपने तो पैर में पैर वाँध लिया और एक पद्मासनसे बैठ गये । क्या कारण है ? मालूम होता है कि इस लोकमें कोईसा भी स्थान ऐसा नहीं है । जो जाने योग्य हो, जहाँ जाकर आत्मा की कोई वात मिले, आनन्द मिले ऐसा कोई स्थान नहीं है । तो जाने की आवश्यकता नहीं रही, सो आप पैरमें पैर वाँध कर विराजे हैं । हाथ पर हाथ रखे हुए हैं । मालूम होता है कि इस आत्माका दुनियाँमें कुछ भी करने योग्य काम नहीं है जिस कामको करके आत्माको शान्ति मिले और दुःख समाप्त हो जाये । हे प्रभो ! इस दुनियाँमें कुछ भी करने योग्य काम नहीं है इस कारण आपने हाथ पर हाथ रख लिया है ।

प्रभु की दृष्टि मुद्रा—प्रभो ! आपकी दृष्टि नासाग्र है । कहीं यहाँ वहाँ नहीं देखते हो । क्या देखें भगवान कोई भी पदार्थ तो ऐसा नहीं है जिसके निरखनेसे आत्माके संकट टल जाते हैं । वल्कि देखनेसे संकट वढ़ते हैं । किसीका स्नेह वंधन हो तो उसमें मूल प्रेरणा चक्षुरिन्द्रियमें होती है । आँखों

से देखा तब कुछ बोलनेकी भी इच्छा हुई। तब कुछ और विशेष व्यवहार की भी इच्छा हुई यों स्नेह बढ़ जाता है। देखा होगा कि जिसे दीखता नहीं है, अंधे होते है उन्हें दूसरोंका लिहाज नहीं होता है जो मनमें आया फट बोल जायगा। आँखोंका स्नेह उन साधुवोंके नहीं होता है। क्योंकि वे जानते हैं कि आँखोंसे देखना सर्व बन्धनो का मूल प्रयोग है। उन्हें कुछ देखनेका अब प्रयोजन नहीं रहा। हे प्रभो! आपने इसीलिए अपनेअन्तरमें दृष्टि करली है। तभी आपके सबसे. बड़ी प्रसन्नता है।

प्रसन्न मुद्रा—प्रसन्नताकी मुद्रा तब ही होती है जब संकल्प विकल्प न रहे और मात्र एक आत्माका अनुभव रहे। उस स्थितिमें यह मुख मुद्रा भी अति प्रसन्न नजर आती है। यह प्रभुकी प्रसन्न मुद्रा इन बातोंको स्पष्ट बताती है कि आपका गुण शुद्धोपयोग है वहाँ किसी भी प्रकारके विकारको स्थान नहीं है। मुख मुद्रा बिगड़ती है तो आत्मामें किसी प्रकारका विकार भाव आने पर बिगड़ती है। कोई क्रोधमें लग रहा हो तो उसकी मुख मुद्रा को देख लो विकृत मिलेगी। किसीको घमण्ड आ रहा हो तो उसकी मुख मुद्रा देख लो। और मायाचारी हो तो देखलो उसकी मुख मुद्रा, बिलम्ब जैसी होगी। और कोई लोभ सताता हो तो उसकी भी विकृत मुद्रा देख लो जिस का हृदय निर्मल है, कपायोंसे परे है, कपाय विकारोंसे रहित शुद्ध ज्ञान स्वभाव निज आत्मा देवके दर्शन होते हैं उनकी मुख मुद्रा तो अत्याधिक प्रसन्न नजर आती है। प्रभो आपकी यह प्रसन्न मुख मुद्रा आपके अन्तरङ्गकी निर्मलताको प्रकट करती है।

बाह्य प्रवृतिहोने पर भी अन्तर्वृत्तिकी भावना—साधुजन मन, वचन, कायकी चेष्टका विरोध क्यों करते? उन्हें मनकी चेष्टामें सार नहीं दिखता, वचन और कायकी चेष्टामें उन्हें सार नहीं दिखता। सो यद्यपि यह चेतनकी वृत्ति मायने उपयोग यह आत्मा जो काम करे ऐसी वृत्ति पर द्रव्योंमें कदाचित लग रही है अथवा व्यवहारमें बाहरमें प्रवृति है, किन्तु ज्ञानमें एकत्वकी भावना चल रही है स्वभाव भेद उनकी नजरमें है। शिष्यसे बोलता है। फिर भी सत्ता भेद उनकी प्रतीतिमें है।

विषयोंको पीड़ने वाला कुशल महत्व—जैसे एक कुशल मल्ल होता है तो दूसरे मल्लसे वेगपूर्वक विधिपूर्वक पीड़ा दे देकर हरा देता है इसी प्रकार यह साधु ऐसा कुशल मल्ल है जो विषय कषायोंके परिणामोंको पीड़ा दे देकर सिथिल करके उन्हें हटा देता है। यह सामर्थ्य उन साधुवोंके ज्ञान बलमें है। विषयोंको चुन लेना महा पिशाच लगने जैसी आपत्ति है। विषय

भावमें उपयोग विगड़ जाय, कर्म बन्ध हो, अनेक आपत्तियाँ सामने आती हैं। अपने आपही जैसे मकड़ी जाल फैलाकर फस जाती है इसी प्रकार यह जीव विषयोंके परिणामोंका जाल विछाकर अपने आपही उनमें बंध जाता है। दूसरेकी गल्तीको दूसरा झट समझ लेता है अब इसको क्या पड़ी है इसके घरमें और लोग हैं, समर्थ हैं, ये व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं। कैसा फसा यह है। यदि न फसे तो क्या विगड़ जायगा ? ऐसी गल्ती दूसरोंको दूसरों की दिखाती है पर अपनी गल्ती अपनेको नहीं दिखाती है। दूसरेकी आंखकी फूली भी नजर आये तो कहेंगे कि तेरी आँखमें फूली है और अपनी आँखका टेंट भी निकला हो तो भी अपनी नजरमें नहीं आता है। और इतना भी अनुमान नहीं करते कि जैसे मुझे दूसरोंका दोष दिख रहा है, मूर्खता भरा व्यर्थका इसी तरह से मुझमें दोष है यह अनुमान तक भी नहीं करते। ये साधु जन देखो अपने आत्माको खोज-खोजकर बीन-बीनकर उन विषय कषायोंके परिणामों को हटा देते हैं।

आत्मा-बल वृद्धिका मूल उपाय सुलक्ष्यनिर्णय—भैया ! उत्तम लक्ष्य बन गया साधुका, मुझे तो समताप होना है, मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना है, इस लक्ष्य बन जानेके कारण ही शत्रुओं द्वारा अनेक उपद्रव भी आते है तव भी वे अपने लक्ष्यके ध्यानसे चिगते नहीं हैं जान लिया कि सारभूत तत्त्व तो मेरे शुद्ध चैतन्य स्वरूपका आलम्बन है। सो ऐसे ही नहीं जैसे कुशल मल्ल पीड़ा करके अन्तमें उसे हटा देता है उसी प्रकार ये साधु इन विषय कषायों को पीड़ा दे देकर निकाल देते हैं। यह शांति पानेकी एक अमोघ औषधि है। जिस कालमें यह जीव पर द्रव्योंसे भिन्न समस्त कषायादि पर भावोंसे भिन्न एक निज शुद्ध ज्ञान तत्त्वकी दृष्टिकरता है और ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसे अनुभाव रूप परिणमन करता है उस ज्ञान परिणमनसे समस्त विषय कषायोंके संकट एक साथ टल जाते हैं।

कष्टनिवृत्तिका उपाय विषयोंकी उपेक्षा—भैया ! कहावतमें कहते हैं, बड़ी भार करतारका' दिलसे दिया उतार। इन विषयकषायोंको तो साधुवोंने विल्कुल हटा दिया है। उपाय भी यह एक ही है कि इन विषय कषायोंसे पूर्ण उपेक्षा कर जावो और विषय कषायोंसे अत्यन्त भिन्न इस सहज ज्ञान स्वभावरूप अपनेको अनुभव कर लो। क्या कष्ट होता है ? जैसे अपनेको मान रहे हो कि मैं अमुक घर वाला हूँ, ऐसे परिवार वाला हूँ, अमुक बिरा-दरीका हूँ, अमुक पोजीसनका हूँ। यदि और अन्तर दृष्टि करें तो आप यह मान लेंगे कि मैं तो एक अमूर्त ज्ञान चमत्कार मात्र चैतन्य द्रव्य हूँ। ऐसी हाँ

यदि करलो, ऐसी स्वीकारता आजाय तो क्या कुछ विगड़ता है? नहीं बनता है सब। कैसी परेशानियां हैं? वाहरमें कुछ न ढूढो कि घरमें दंदफंद हैं, या घरके लोग यों है, यों हैं, सारे काम वाहरमें पड़े हैं, उनमें परेशानी मत ढूढो। परेशानी तो मूलभूत यह लगा रखी है कि जो पर भाव है, मेरे स्वभावसे उठने वाला नहीं है। ऐसे विषय कषायकी तरंगोंको अपना लिया है कि यह मैं हूँ। यही है सबसे वड़ी परेशानी। अन्य परेशानियोंको परेशानी मत गिनो। वे कुछ भी परेशानी नहीं हैं। आपसे अधिक अनन्ते जीव दुःखी हैं। कौनसी परेशानी? यह संसार तो दुःखमय ही है और आत्मस्वरूपरूप आनन्दमय है ऐसा जान कर क्लेशोंसे दूर होओ।

क्लेशहीनताका कारण यथार्थ बुद्धि—एक सेठ थे। तो किसी कारण वे अपराधी सावित हुए सो अधिकारीने उसे कैद में डाल दिया, बिल्कुल थर्डक्लाशकी जेल में डाल दिया। अब उन्हें वहाँ चक्की पीसनका काम दिया गया। सेठ वड़ा दुःखी हुआ और परस्परमें कैदियोंसे अपने दुःखकी वातें सुनाता था। तो एक विवेकी कैदी था वह वोलता है कि सेठजी तुम इस समय कहाँ पर हो? बोला सेठ जेल खानेमें! तो यहां पर क्या किया जाता है?…! यही चक्की पीसी जाती है। तो सेठ जी यह ससुराल नहीं है जो तुम्हारे पैर पखारे जायें और गुदगुदा पलंग विछाया जाय। यह तो जेल है सो जेल खाने जैसा काम हो रहा है। तुम अपना दिमाग वदलो तो तुम्हारा दुःख एक चौथाई रह जायगा। वह तो दुःख है ही और यह दुःख बना है कि मैं सेठ हूँ, मैं कैसे आरामसे था। हाथ यहाँ पीसना पड़ रहा है यह दिमाग वदलो तो तुम्हारा दुःख एक चौथाई रह जायगा।

आन्तरिक स्वच्छतासे खेद मुक्ति—इसी प्रकार ये सब दुःखी होते हैं हाय मैं कैसा था और यह क्या हो गया? भैया, यदि दिमाग वदलो तो दुःख नष्ट हो जावेंगे। यह संसार है। इस संसारमें रह कर तो दुःखी ही मिलेंगे। यह तो कल्पनाका ही संसार है ऐसा दिमाग वदलो तो यहाँ दुःखोंका कुछ भी अनुभव न होगा। और यह दुःख तो कोई चीज ही नहीं है। क्लेश तो केवल पर द्रव्यों और पर भावोंमें आत्मीयमाकी स्वीकृत है। वे संकट हैं। सो ये साधु पुरुष उन सब कपायोंके समूहको एक साथ ही दूर कर देंगे। छुड़ा देते हैं, हटा देते हैं। वे पुरुष समस्त पर द्रव्योंसे शून्य हो गये हैं। कहते हैं ना कि लाइन क्लियर है, सिग्नल अब दे दो। लाइन क्लियरका क्या अर्थ है कि इस लाइन पर कोई गाड़ी नहीं आ रही है अब सिग्नल दे दो। तो साधूने अपने आत्माको क्लियर बना दिया है, साफ बना दिया है। क्लियरका क्या

अर्थ है कि अपना उपयोग अब पर द्रव्योंमें नहीं बसा रखा है।

शुद्ध ज्ञान भावकी उपासनाका परिणाम—समस्त पर द्रव्योंसे शून्य होकर भी शुद्ध दर्शन ज्ञानमात्र स्वभाव रूपसे रहने वाले साधुजनोंमें आत्म तत्त्वकी दृष्टिसे एक सत्य स्थिरता पैदा होती है, ज्ञान दृष्टि ही अमृत है दुनियामें अमृत और कोई चीज नहीं है। कुछ भी परेशानी आवे, मैं तो ज्ञान मात्र अमूर्त हूँ ऐसी दृष्टि आवे तो परेशानियां तुरन्त मिटेगी। और दूसरे पदार्थो को या जीवोंको परेशानियाँ मिटानेके लिए कितनी प्रार्थना करें उससे सिद्धि नहीं है। अपने ज्ञानदेवकी उपासना करलो सारे संकट टल जायेंगे। इस आत्म ज्ञानके प्रतापसे निश्चल प्रवृत्ति वाला साधू बने वही संयमी होता है। ऐसे साधुवोंके ही आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयम एक साथ विराजते हैं। और अपने आत्मतत्त्वमें नित्य निश्चलताकी वृत्ति करते हैं।

साधनाका प्रयोजन विकल्प मुक्ति—भैया आत्म ज्ञान, आगमज्ञान और चरित्र इन सबका पुट हो तो आत्म शुद्धि मिलती। ज्ञानमार्गमें जानेसे रोकने वाली चीज विषय और कषाय है। दूसरा पुरुष नहीं है। अजी अमुक पुरुष मुझे धर्ममें ही नहीं लगने देता ये घरके लोग मुझे ऐसा बांधे हैं कि मैं शान्ति स्वरूप नहीं पा सकता हूँ, यह व्यर्थका उलहना है। अरे ज्ञानमें शान्तिमें बाधक तो तुम्हारे ही विषय कषायोंका परिणाम है। यहीं आप बैठे हैं आप स्वतन्त्र हैं। बैठे ही हैं ना? जब तक बैठे हैं तब तक घर तो आपसे नहीं मिल रहा है, घरकी कोई चीज तो आपके पास नहीं है। गिननेको कोई गिन्नी अथवा सोना चांदी भी तो आपके पास नहीं हैं। आप तो यहाँ खाली बैठे हैं। कहीं वश तो नहीं चल रहा है। हाँ यहाँ से आप उठ जायें और घर चले जायें तो घरकी चीजोंसे आपका सम्बन्धहो गया पर जब तक आप यहाँ विराजे हैं तब तक आपकाकिसी वस्तुसे सम्बन्ध ही नहीं है। चलो इतनी ही देर किसीका संकल्प विकल्प न करें और केवल अपनेको एक ज्ञानमात्र मैं हूँ, केवल ज्ञान ज्योति मात्र हूँ ऐसा अपनेको सोचने लगें, अनुभव करने लगे तो क्या बिगड़ता है? पर विषय कषायोंका परिणाम तो ऐसा घर कर गया है कि अपनी कुछ चिन्ता नहीं।

धर्मध्यानका अवलम्बन—धर्म ध्यान विना गृहस्थको या किसीको सुख न मिल सकेगा। और उन बातोंका तो उपदेश ही क्या देना है कि कमाई धनकी रोज करना चाहिए। वह तो हदसे ज्यादह कर ही रहे थे। वह तो रागकी क्रिया है। धर्म ध्यान विना निराकुलता न मिलसकेगी। जैसी गड़बड़ से रहना है रह लो, कितनी ही योनियाँ हैं, कितनीही गतियां हैं उनसे भेंट

लेना होगी। इस समय को इस पीरिपेड की ऐसे न जानों कि मैं सब कुछ करने वाला हो गया, अधिकारी हो गया, मालिक हो गया, श्रेष्ट हो गया। अरे कुछ भी नहीं हो गये, खाकभी नहीं हो गये। ये विकल्पोंके द्वेष और ज्यादह लगा रहे हो जिसके भीतर योगीजन रमा करते हैं उस तत्वका परिचय तो करलो। नही रम सकते तो न सही मगर ये साधुजन अपना उपयोग कहाँ रख रहे है ? ये एकांतमें जंगलमें सर्वत्र बड़े प्रसन्न रहा करते हैं। ये कहाँ अपना दिल रखा करते हैं ? जिस जगह वे अपना उपयोग लगाते हैं उस पदका परिचय तो करलो।

वे सेवक कैसे जो मालिकके रग-रगकी वातें न समझते हो ? वे उपासक कैसे जो साधूके अन्तर मर्मकी वात न समझ सकते हो ? साधुताके पदका परिचय हो जाय तो यह दुर्लभ नर जीवन सफल है साधुताके पूर्ण परिचयमें कारणपरमात्मा व कार्य परमात्माका भी परिचय हो जाता है। विषय कषायोंके परिचयमें अपने आपकी बरबादी करना है। हम भोग नहीं भोगते, भोग हमें भोग डालते है। वे हमें नीरस करके बरवाद करके फेंक देते हैं। इससे अधिक और क्या बिगड़ेगा। इन पुद्गलोंके समक्ष हम झुक जाते हैं, बरबाद हो जाते हैं, निस्तेज हो जाते हैं, ज्ञानहीन हो जाते हैं, कुपथमें लग जाते हैं और कैसी-कैसी योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। जिन-जिन कीड़े मकोड़ोंको देखकर हम डरते हैं, ग्लानि करते हैं जिन सूकर गधों को देखकर हम सोचा करते हैं कैसी निन्दय अवस्था है ? मैला ही खाकर पेट भरते हैं, मैलेमें ही पड़े रहते है। हम न चेते तो यही अवस्था तो हमें भी मिलनी है। भैया, आत्मदया करके इस दुर्लभ नर जीवनसे हमें अलौकिक लाभ लेना चाहिए और गप्पियोके संगसे दूर रहना चाहिए।

श्रावकोंका प्रारम्भिक कर्तव्य सद्गोष्ठीसहवास—कुछ सुननेको मिले तो ऐसी चीज कि जिससे आत्म दृष्टि हो। ऐसी सद्गोष्ठी बनाइये दो ही बाते तो श्रावकको सोचना चाहिए। अजीविका और आत्मोद्धार गप्पोमें ठहरने से क्या फायदा ? इससे तो धन हानि भी हो और आत्महानि भी हो। ऐसे गप्पियोका संग तो श्रेयस्कर नहीं है। गृहस्थावस्थामें भी परस्परमें अपनी गोष्ठी बनावो। मिलन जुलन रखो उठक बैठक रखो तो वह भी सज्जन पुरुषोंमें। खोटी बातें कुसंगसे जल्दी आती हैं, अच्छी बातें बड़ी मेहनत करके सत्संग करके मुश्किलसे आती हैं। आने दो मगर सत्संग का ही अपना विचार बनावो और जैसे शुद्ध भावना बढ़े वह काम करो। शुद्ध भावोंका घात हो तो यही आत्माकी बड़ी हानि है।

जिस पुरुषको आत्मज्ञान तत्त्वश्रद्धान और संयम इन तीनोंकी एकता प्राप्त होती है, तीनोंका एकसाथ होना होता है और साथ ही आत्मज्ञान भी है ऐसे संयमी पुरुषको, श्रमणको क्या लक्षण हैं ? इसका अब यहाँ उपदेश करते हैं।

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

जो शत्रु और बंधुवर्गमें समान परिणाम रखता हो, जो सुख और दुःखमें समता परिणाम वर्तता हो, जिसका प्रशंसा और निन्दामे एक भाव हो, लोष्ट और कंचनमें एक स्वरूपका परिणाम है। जीवन और मरण जो बराबर समझते हैं श्रमण कहते है संयमी कहते है।

श्रामण्यचिन्ह समताभाव—श्रमणका धर्म क्या है ? धर्म वस्तुके स्वभावको कहते है। आत्मा वस्तुका स्वभाव है। ज्ञातादृष्टामात्र रहना अर्थात् समताका पुन्ज रहना। सो समता ही धर्म है। समता वहाँ है जहाँ मोह और क्षोभ परिणाम नहीं है। धर्म क्या हुआ ? आत्मपरिणाम। सयम क्या ? आत्मपरिणाम। सब दृष्टिकी लीला है। अपने आपमें दृष्टि न थमी बाहरकी ओर मुड़ गए तो वहाँ अनर्थ होने लगता है और किसी भी प्रकार प्रकार दृष्टि अपनी ओर आगयी तो वहाँ शान्ति सरसने लगती है। श्रामण्य प्राप्तिका लक्षण है समता जिसके समता नहीं है वह साधु नहीं है। जो रागद्वेषोंसे प्रवृत्ति करता है उसके परमपद काहे का परमेष्ठित्व उसके कहाँ रहा। इसकारण समता परिणाम साधुका एक प्रधान लक्षण है। और लोगोंको बाहरसे भी अंदाज हो सकता है कि इसके समतापरिणाम है या नहीं ? समता गाथोक्त कुछ पदार्थो में बतायी है। उपलक्षण से और सब पदार्थोंमें समझ लेना चाहिये।

शत्रु और बंधुवोंमें समता—राजा श्रेणिकने जिस साधुपर मरा सांप डाला था, उपद्रव किया था। उस साधुके पास जब तीन दिन बादमें श्रेणिक और चेलना दोनों गये तो उपसर्गका निवारण किया। साधुमहाराज जब उपसर्गसे दूर होते है और दृष्टिखोलकर देखते हैं, विदित तो उन्हें सब था। ज्ञान कहां चला जाय ? किन्तु समता परिणाम था सो वे साधु महाराज कहते हैं उभयोः धर्मवृद्धिः अस्तु। तुम दोनोंके धर्म वृद्धि हो। ज्ञानका प्रकाश उत्कृष्ट महिमावाला है। ज्ञानीकी दृष्टिमें सब जीवोंके प्रति करुणा होती है। जिसने उपद्रव किया तो उससे विगाड़ करनेसे क्या लाभ उठाया जायगा ? कुछ मुझे कल्याणकी प्राप्ति न होगी। जिसने मेरी प्रशंसा की उसका राग

करके यह आत्मा क्या लाभ पायेगा ? इसके लिए तो सर्व एक समान हैं। साधूके उस समता परिणामको जानकर श्रेणिक एकदम गद्गद् हो गया। धन्य है, धर्म है तो यह है।

दर्शकोंका शान्तपुरुषकी ओर आकर्षण—अभी कहीं दो में लड़ाई होती हो और एक उपद्रव करता हो, बड़ी-बड़ी बातें करता हो या कुछ हाथापाईके लिए उतारू हो और दूसरा शांत रहता हो, गम खाता हो तो देखने वाले लोगोंका आकर्षण किसकी तरफ होता है ? उस बढ़बढ़कर बातें करने वाले की तरफ या गम खानेवालेकी तरफ ? गम खाने वाले की तरफ। इस गमका ही नाम समता है। साधूका प्रधान लक्षण समता है। वह सुख और दुःख दोनोंमें समान रहता है, साधुकी यह प्रतीति है कि आत्माकी निधि तो ज्ञान और आनन्द है। इस ज्ञान और आनन्दका जो सही परिणमन है उसका भी साधुको परिचय है। इसकारण इस ज्ञानानन्द परिणमनके अतिरिक्त उसकी दृष्टिमें अन्य सब परिणमन या समागम सब निस्सार प्रतीत होते हैं।

सुख दुःखको समान समझनेके मूल कारण—दुःख आयें तो यह भी एक औपाधिक परिणमन है, विनाशीक है यह भी न रहेगा। किसमें घबड़ाहट करें ? सुख आये तो यह औपाधिक परिणमन है। कल्पनाकी बात है, विनाशीक है। यह भी न रहेगा। किसमें मग्न होऊँ। ज्ञानीसंतका सुख और दुःख दोनों एक समान मालूम होते हैं। सुख और दुःख ही समता मालूम होते हों सो नहीं, सुख और दुःख जिसके निमित्तको पाकर हुआ करते हैं ऐसे पुण्य और पाप कर्म ये दोनों भी समान मालूम होते हैं। यह ज्ञानका चमत्कार है। अज्ञानी यह सोचता है कि पुण्य और पाप तो बराबर हैं तो चाहे पुण्य करलें, चाहे पाप करलें, क्या डर है। अज्ञानी सोचेगा कि त्यागी महाराज ने हमें सुनाया था कि पुण्य और पाप दोनों बराबर हैं सो कुछ भी करलें। ज्ञानी तो यथार्थस्वरूप जाननेके कारण सोचता ही है।

कथनके अनुचित प्रयोगका एक दृष्टान्त—एक गुरू शिष्य थे। गुरु अच्छा विद्वान था। सो शिष्यसे बोला कि बेटा क्या पढ़ना है ? कौनसी किताब पढ़ना है ? कोई भी किताब पढ़ो, बिना पढ़ी या पढ़ी हो, मेरे लिए सब किताबें एक समान हैं। गुरुका मतलब क्या था कि बिना पढ़ी पुस्तक भी पढ़ा सकते हैं। शिष्य था मूर्ख टाइपका। उसे विद्या न आती थी। शिष्य कहता है गुरु जी कोई भी किताब पढ़ा दो मेरे लिए सब किताबें पढ़ी न पढ़ी एक समान हैं याने पढ़ावो तो हमें याद नहीं होगा और न पढ़ावो तो हमें याद नहीं होगा। तो ऐसे ही अज्ञानीके लिये पुण्य और पाप दोनों

समान हैं। ऐसी गुरुकी बात सुनकर अज्ञानी शिष्य यह सोचता है कि मेरे लिए पुण्य और पाप दोनों समान हैं। सो बात नहीं।

पुण्य पापकी समानता के कारण—ज्ञानीसंत सुख दुःखके कारण भूत पुण्यपाप को समान कैसे देखता है ? प्रथम तो यह कि पुण्य के उदयसे जो मिलता है वह है इन्द्रियजन्य सुख या मानसिक सुख। इस सुखमें तो आकुलताएँ भरी हैं, बड़ी पराधीना है, यह विनाशीक है, वेहोश कर देने वाला है। इस सुखमें दुःखसे कोई खास फर्क नहीं पड़ता है। संसारी दुःखमें तो बेचैन रहता है और इन्द्रियजन्यसुखमें भी बेचैन रहता है। शांतपरिणामी रहते हुए किसने पदार्थोंको भोगा ? अपनेमें क्षोभ मचाता हुआ ही कोई विषयोंको भोगपाता है। भले ही भ्रममें इसने मौज माना। पहिला कारण तो यह है कि पुण्यके उदयसे जो प्राप्त हुआ सुख है वह दुःखसे कुछ अन्तर वाला नहीं है। फिर पुण्यकर्म भी कार्मणवर्गणावोंके पुद्गल परमाणुओंसे रचा हुआ है और पापकर्म भी कार्मण वर्गणावोंके पुद्गल परमाणुओंसे रचा हुआ है। दोनों ही जड़ हैं। इसलिए पुद्गलकर्म और पापकर्म दोनों ही समान हैं। तीसरी बात जैसे पाप कर्म दुःख उत्पन्न कराकर बंधन में डाल देते हैं, इसीप्रकार पुण्य कर्म भी सुख उत्पन्न कराकर जीवको बंधनमें डालता रहता है। दुःखोंकी स्थिति में तो बंधन इतने मजबूत नहीं होते जितने सुखकी स्थितिमें बंधन मजबूत होते हैं और पुण्यकर्म, पापकर्म ये दोनों ही समान है।

पुण्य पापके कारणभूत शुभ अशुभरागकी समानता—पुण्य व पाप दोनों समान हैं, इतना ही नहीं किन्तु पुण्य कर्म और पाप कर्मके कारण भूत जो शुभ राग और अशुभ राग,शुभोपयोग और अशुभोपयोग ये दोनों समान हैं। किसकी दृष्टिमें ? ज्ञानी संतकी दृष्टिमें। जिसने अपने सहज स्वरूपका परिचय कर लिया है उसके लिए जो शुभराग है वह भी विकार है और अशुभ राग है वह भी विकार है। किन्हीं भी विकारोंसे मेरा विकाश नहीं है. विकार मेरा स्वरूप नहीं है। यह जो कुछ होता है वह भी पराधीनता है निमितके भावोंमें ये नष्ट हो जाते हैं। ये खुद अशरण हैं। यों शुभ और अशुभ विकारोंको भी वह ज्ञानी समान निरखता है। इस तरह उन रागादिक भावों से भी न्यारा निराला निज शुद्ध ज्ञान स्वभावका परिचय जिसे होता है ऐसा पुरुष समताका निधान होता है।

प्रशंसा व निन्दामें समानता—प्रशंसा और निन्दा भी श्रमणके एक समान हैं। प्रशंसासे इस आत्माको कोई शान्ति प्राप्त नहीं हो जाती और

निन्दा सुननेसे कोई इस आत्माकी अवनति नहीं हो जाती। जो समताका अभिलाषी नहीं है वह प्रशंसाकी बात सुनकर अपने आपमें विकल्पोंका अंधेर मचाकर कल्पना वश सुखी होता है। और निन्दाकी बात सुनकर अपने आपमें विकल्पोंका अंधेर मचाकर कल्पना वश दुःखी होता है। प्रशंसा और निन्दाके शब्द भी भाषा वर्गणावोंके परिणमन हैं। यह भाषा वर्ग भावोंका परिणमन ये अचेतन द्रव्य मेरा क्या सुधार और बिगाड़ कर सकते हैं।

श्रमण संतोंके लोष्ठ व कञ्चनमें समानता—साधु प्रसंसा और निन्दामें भी समान रहते हैं। साधुजनोंके लोष्ठ व स्वर्ण ये भी समान रहते हैं। यहाँ पत्थर न कहकर लोष्ठयाने लोड़ा शब्द कहा गया है। जैसे नदियोंमें गोल-गोल टेढ़े मेढ़े पत्थर पड़े होते हैं, उन्हें लोड़ा कहते हैं, वे पत्थर बेकार हैं। अच्छे पत्थर हों तो वे काममें भी आये, बढ़िया फर्स बनाले, उस पर बैठ लें पर लोड़ा तो किसी काम नहीं आता। तो उस साधुको लोड़ा और कंचन दोनों एक किस्मके हैं। क्योंकि उसकी दृष्टि है कि आत्माकी उन्नति तो उपयोगकी विशुद्धतामें है। बाह्य पदार्थोंके संचय में नहीं है। और स्वरूपको देखें तो लोड़ा भी रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड है और कंचन भी रूपादिका पिंड है। साधुजनोंकी भिक्षा वृत्ति होती है अर्थात् आहार के लिए विधिपूर्वक निकलना होता है किसी ने भक्ति पूर्वक शुद्ध आहार दिया तो ले लिया। यदि ऐसी चर्या न हो तो नौबत आ जाती महल बनवानेकी और वैभव रखनेकी। अभीजिन लोगोंमें साधुजन खुद अपने आप रसोई बनाते हैं उनके स्थान पर देख लो और नहीं तो साधारण गृहस्थ की भांति सब चीजें उनके यहाँ पायी जाती हैं खेती भी, बैल भी। जब यहां तक नौबत आ गई तो लोष्ठ और कंचनमें समान बुद्धि रखनेका मौका ही कहाँ रहता है।

परतत्वोंमें द्वैतके आशयका निषेध—श्रमण सन्तोंमें समता परिणाम स्वभावसे हुआ करता है मोही जीवके यह मेरा है, यह पराया है ऐसी द्वैत बुद्धि होती है किन्तु जो पर हैं वे सभी पर हैं। कुछ इसमें मेरा हो, कुछ दूसरे का हो ऐसी द्वैत बुद्धि साधुमें नहीं होती है। यह आह्लाद्र है—सुख है और यह पारिताप है क्लेश है, ऐसी दुविधा भी साधुवोंके नहीं है। लौकिक पोजीशनके प्रशंगमें यह तो मेरा अपकार्षण है, यह मेरा उपकर्षण है ऐसा आशय नहीं होता। यह मेरे लिए अकिंचित कर हैं और ये मेरे अपकारक हैं। यह मेरे रक्षण हैं और यह मेरा विनाशक है इस प्रकारका मोह श्रवण संतों में भी नहीं होता।

प्रवृत्तिकी मूल रुचि—सब कुछ एक लगनकी बात है। जैसे हवाई जहाज

या पानीका जहाज चलाने वालोंके पास एक दिशा दर्शक यन्त्र होता है। यदि दिशा दर्शक यन्त्र न होता तो वे सब जहाज वेकार हैं। कैसे चलेंगे? समुद्रके चारों ओर पानी ही पानी नजर आता है। कोई पेड़ हो, नगर हो, महल हो, कुछ दिखाई दे तो भाई उस ओर जहाज बढ़ा दिया जाय। किस ओर वढ़ाया जाय? कैसे चले? इसलिए मार्ग बताने वाला कोई दिग्दर्शन यन्त्र है उसके सहारे वायुयान जलयान चलते हैं। आकाशमें तो सर्वत्र आकाश एक समान है। दिग्दर्शन यन्त्र होता है इसीसे दिशाज्ञान हो जाता है। व समुद्रमें सब ओर पानी है वहाँ भी दिग्दर्शन यन्त्रसे ज्ञान होता है इसी प्रकार का शिवधाम दिग्दर्शक है सम्यग्दर्शन। हमें इतनी दिशा बता दे कोई कि मुझे कहाँ जाना है? ऐसा पता देने वाला यन्त्र है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शनके बिना गति नहीं हो सकती है।

सम्यग्दर्शनका यन्त्र और पूज्यत्व—शान्तिके मार्गमें सम्यग्दर्शन क्या है? सीधे यदि व्यावहारिक शब्दोंमें कहें तो अपने आपके सहज स्वरूपका अभेद रूपमें प्रतिभाष हो जाना यही सम्यग्दर्शन है। जो अपनेको नानारूप देखते हैं उन्हें सब मिथ्या दिखता है। जो सुख दुःखसे अपनेको पर्याय रूपसे मानते हैं उनका यन्त्र बिगड़ा हुआ है। और जो इन सब परिणमनोंसे निराला केवल चैतन्य शक्ति मात्र अपने आपको तिरखता है उसका यन्त्र ठीक है। ये साधूजन भी परमेष्ठी हैं। जिनको रागद्वेषोंसे प्रयोजन नहीं रहे, केवल एक ज्ञानदेवकी उपासना ही मात्र जिनका कार्य है ऐसे साधूजन पूज्य होते हैं। हाँ रागद्वेष यदि उनमें हो तो पूज्य नहीं हो सकते हैं। उनको ये मेरे हैं, ये मेरे पराये हैं ऐसा तिनक मोह नहीं है उनके सर्व पदार्थोंमें उनके रागद्वेष नहीं उत्पन्न होता है।

इष्टानिष्ट भावके मूल द्वैतबुद्धि पर एक दृष्टान्त—दो भैया थे एक वड़ा और एक छोटा। बड़ा भैया बाजारमें गया वहांसे २ अमरूद ले आया एक अमरूद वड़ा था और एक छोटा। सो प्रकृत्या बड़ी चीज आती है दाहिने हाथमें और छोटी चीज आती है वह बाएँ हाथमें। सो इस प्रकार वह भाई अमरूद लिए जा रहा था, सामने एक उसका लड़का और एक छोटे भाई का लड़का आया। सो उसका लड़का तो था बायें हाथकी तरफ और उसके भाईका लड़का था दाहिने हाथकी तरफ। दोनोंने अमरूद मांगा तो विना श्रमकी बात तो यह है कि सीधा दे दो। पर वह वड़ा अमरूद था दाहिने हाथमें। सो हाथ पर हाथ रख कर टेढ़ा करके अमरूद दे दिया। प्राकृतिक भावोंकी आदत नहीं जाती। अजी लाखोंका माल हो तो कुछ छल किया

जाय पर डेढ़ नये पैसेकी मामूली चीज पर छल क्या करना यह भी ध्यान नहीं रहता। आदत होती है। यह प्रयोग सब पर होता है। यह बात दूसरे भैयाने देखा कहा भैया हम तो न्यारे होंगे। बोला क्यों न्यारे होते हो? लो तुम सब जायदाद ले लो। हमें कुछ नहीं चाहिए। पर न्यारेकी बात न करो वह बोला नहीं भैया तुम सब रखो, हमें कुछ न चाहिए, हम तो अलग ही रहेंगे। मेरे दिलमें यह बात घर कर गयी कि तुमने अपने और परायेका भेद कर डाला। इतनी ही बात है।

जब अपने और परायेका भेद कर लेने से भैयाका दिल फट सकता है तो जो शुद्ध जीव मानोंमें अपने और पराये भेद करे तो क्या लोगोंका दिल न फट जायगा? फट जायगा। वह पूज्य नहीं है जिसके समता परिणाम नहीं हैं। रागद्वेषोंकी बुद्धि इन साधुवोंमें नहीं है। निरन्तर विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावमय अपने आतमाका अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव करने वाले साधू सन्तोंकी क्या वृत्ति होती है इसका वर्णन कल चलेगा।

परम श्रामण्यके पानेके उपायभूत योग्य स्थिति—जो साधु शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावमय अपने आत्मतत्वका अनुभव करता है वह शत्रु बन्धुमें, सुख दुःखमें प्रशंसा निन्दामें, लोष्ट कंचनमें, जीवन मरणमें एकसी बात निरखता है और इन सब बातोंको ज्ञेय रूपसे उल्लंघन करके ज्ञानात्मक आत्मामें अपनी परिणतिको अचलित करता है तब यह परम श्रामण्य प्रकट होता है। शत्रु की चेष्टा है वह भी ज्ञेय है बन्धुकी चेष्टा है वह भी ज्ञेय है। न तो शत्रु की चेष्टा से इस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझ आत्माका विगाड़ होगा और न बंधु की चेष्टामें इस आत्माका सुधार होगा। इस ही प्रकार इन सब अज्ञानीजनों को इष्ट अनिष्ट लगने वाले पदार्थोंमें ज्ञेयरूपसे ही परिणमते हैं। जब आत्माकी प्ररिणति अचलित हो जाती है तब सर्व ओरसे समता परिणाम हो जाता है। धर्म बाहर नहीं है। धर्म अपने अपने अन्तरंगमें ही है। देखने की तरकीब है। संकल्प विकल्पका त्याग करो।

प्रेक्टिकल आत्म चर्या ध्येय सिद्धिका कारण—कोई बालक कहे अम्मा री अम्मा मुझे तैरना आ जाय। हां बेटा आ जायगा, मगर पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाय यह नहीं हो सकता है। मुझे धर्म आ जाय मगर संकल्प विकल्प विषय, कषाय न छोड़े तो धर्म नहीं हो सकता है। इस परम यज्ञमें समस्त पर द्रव्योंकी और पर भावोंकी आहुति कर देना होगा, अर्थात् त्याग करना होगा। त्याग विना धर्म नहीं है जब इस पद्धतिसे शुद्ध समता परिणाम होता है तब यह सिद्ध हुआ कि आगमज्ञान तत्वार्थ श्रद्धान और

संयम ये तो एक साथ होते ही है पर आत्मज्ञान एक साथ हो तो ऐसे संयम का लक्षण उत्तम समता परिणाम है। समता भावका परिणमन कहिए, यदि शुद्ध आत्मतत्वका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण कहिए, या निर्विकल्प समाधि कहिए। या निर्विकार परम आल्हादरूप आनन्द मूर्तिके अनुभवका लक्षण परिणमन कहिए यह सब निर्विकल्प आत्मज्ञान परम तपस्वीका जानना चाहिए।

श्रामण्य अथवा साधनचतुस्टयी—अब इसे ही मोक्ष मार्गके रूपसे समर्थन करते है। याने आगम ज्ञान हो, तत्वार्थ श्रद्धान हो, संयम हो, आत्म ज्ञान हो, यही सब मिलकर मोक्षमार्ग कहलाता है। या विशुद्ध ज्ञान स्वभावमें एकाग्रता कहो या श्रामण्य कहिए, परम समता कहिए, ये सब मोक्षमार्ग है। लोकमें भी देखो कि कोई किसी झगड़ेमें फस जाय तो उससे छूटने का उपाय क्या है ? मार्ग क्या है ? गम खाना। गम खाना कहो या समता परिणाम कहो एक ही बात है। लौकिक झगड़ोंसे छूटनेका उपाय है गम खाना। और जन्म मरण, सुख दुःख इन झंझटोंसे छूटनेका उपाय है समता, श्रामण्य। इस ही बातको अब कह रहे हैं।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगावं समुट्ठिदो जी दु।
एयग्गगदोत्ति मदों सामण्णं तस्सं परिपुण्णं ॥२४२॥

शान्तिका साधक—दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों भावोंमें एक ही समय उद्यमी हो। प्रवर्तन वाला मनुष्य एकाग्रगत कहलाता है। अर्थात् शुद्ध ज्ञान स्वरूपमें उपयोग देने वाला कहलाता है। वही श्रमण है। जैसे हाथ में कभी कोई अंगूठी रखले उस अंगूठीको ही बड़ी अशान्तिसे ढूढ़ने लगे को मुट्ठी खोल कर तो वह देख नहीं सकता क्योंकि वह विह्वल है। अंगूठी कहाँ गई ? उसमें ४ हजारका हीरा जड़ा था, संदूकमें इधर उधर टटोलता, टटोलता बाँये हाथ से है ऐसी मतिभंग हो गई कि रोज दाहिने हाथसे बक्स खोलते थे अब बांये हाथसे काम कर रहे हैं। वह अंगूठी कहीं नहीं मिलती है तो वह दुःखी हो रहा है। इसी तरह शान्तिका साधन धर्मका साधन अत्यन्त निकट है, निकट क्या, स्वयं ही यह है इस ओर तो दृष्टि नहीं देता है और बाहर-बाहरमें ही दृष्टि फिराये रहता है। इससे अपराध दूसरेका नहीं है। इसमें खुदका ही अपराध है।

व्यर्थकी शान और क्लेश—भैया ! सब जानते हैं कि खुद ही अकेले मरते हैं, अकेले ही सुख दुःख भोगते है, अकेला ही संसारमें बंधते हैं। इसमें किसी दूसरेका अपराध नहीं है। घरमें देखनेसे यह लगता है कि इन

सब लोगोने बड़ा परेशान कर दिया है। ये न होते तो कहीं देखने को न मिलते तो यह झंझट न बढ़ता। भैया ! पर पदार्थसे क्लेश नहीं, मोहसे क्लेश है। धन के लिए कोई धन नहीं कमाता धनके लिए तो धन गरीब कमाता है जिसको दाल और रोटी का सेजा करना कठिन है। पर बड़े पुरुषधनिक लोग लखपती हों तो करोड़पती हों तो लखपती हों तो इन भटकने वाले मिथ्यादृष्टी जीवोंसे दो प्रशंसाके शब्द सुननेके लिए धन कमा रहे हैं, अजी शानसे भी तो रहने की आवश्यकता है। अच्छा तो अपने शानका तौल माप तो बतलावो कि तुम्हारी शान का माप कितना है ? यहाँ तो शान कुछ है ही नहीं, माप क्या बताई जाय। यहाँ तो सब स्वप्नकी बातें हैं।

साधकका आवश्यकीय अद्भुत साहस—धर्म करने वालों की बड़ी हिम्मत चाहिए। इस ही जीवनमें कुछ समय शान रखली और यदि परिणामोंकी मलिनतामें जीवन खो दिया तो इस ही जीवनमें किसी दिन शान धूलमें मिल जायगी। और इस भवमें शान धूलमें न मिल सकी तो एकदम मरणके बाद साफ निर्णय हो जायगा। क्या बनना है? कीड़ा बनना है?मकोड़ा बनना है ? पेड़ बनना है ? अरे इतनी ही तो बात होगी कि लोग मुझे न जानेंगे। न जाने कीर्ति आज तक कुमारी हैं। इसका विवाह ही अभीतक नहीं हुआ अर्थात् इसका अभीतक कोई मलिक नहीं बन पाया, इसका कोई पति नहीं बन सका। यह कीर्ति इधर उधर डोल रही है कहीं इसका ब्याह नहीं हो पाता। यह कीर्ति अनन्तकालकी बूढ़ी हो गई फिर भी इसका विवाह नहीं हो सका। यह कीर्ति जिसको चाहती है वह कीर्तिको नहीं चाहता और जो कीर्ति को चाहता है उसे कीर्ति नहीं चाहती है। जब एक दूसरे को नहीं चाहते हैं तो कैसे विवाह हो ? बतलावो। अर्थात् यह कीर्ति किसकी बन जाय। कीर्ति चाहती है महापुरुषों को, निर्मल आत्मावोंको। सो वे निर्मल आत्मा इस कीर्ति को नहीं चाहते हैं। इस कीर्तिको कौन चाहता है ? पर्याय बुद्धिजन, अशुद्धन, मोहीजन। सो यह कीर्ति उन्हें नहीं चाहती है। इसकारण यह कीर्ति बूढ़ी हो गई है मगर इसका विवाह नहीं हो सका।

रत्नत्रय—जो पुरुष अपने आत्मतत्त्वमें एकाग्र होते हैं वे ही पूज्य होते हैं ये साधू सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनों निर्मल परिणामों में प्रवृत्त हो रहे हैं। सम्यग्दर्शन तो ज्ञान तत्व और ज्ञेय तत्व ये दोनों ही है। जिस प्रकार की अवस्था है उस प्रकार की प्रतीति हो सो सम्यग्दर्शन है। ये सब ज्ञेय हैं। ये राग करने योग्य नहीं हैं। मैं इनसे जुदा

हूँ। ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। मैं केवल इनका ज्ञाता हूँ ऐसी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। और जैसा ज्ञेयका स्वरूप है और ज्ञानका स्वरूप है है उस प्रकार का अनुभव हो, विशद हो, परिचयचलता हो उसे कहते हैं ज्ञान पर्याय। और ज्ञेय ज्ञाता का जो क्रियांतर हो रहा है उससे यह ज्ञाता इन ज्ञेयोंमें घुस रहा है। इससे अपना हित नहीं हो रहा है। यह विपरीत लगन निवृत्ति हो जाय अर्थात् मात्र शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रह जाय यह है चरित्र पर्याय। यह है रत्नत्रय। हम जिसकी आराधना करते हैं। पूजा करते हैं वह यह है। जैसा यह ज्ञाता आत्मदेव है उस ही प्रकार प्रतीति हो उस ही प्रकार अनुभव हो और ज्ञाता मात्र रह जाय तो रत्नत्रय की सिद्धि है।

संघर्षकी स्थितिमें भी खुद की चेष्टा खुदमें—भैया ! यद्यपि यह आत्मा, आत्मामें ही रहता है फिर भी कल्पनासे तो यह लोकमें दौड़ता है पर अंतरग की स्थितिमें आत्मा, आत्मामें ही है। कभी देखनेमें आया हो कि छोटी जाति की स्त्रियाँ एक दूसरी से लड़ती हों और दूर-दूर हों तो वे वड़े जोर से अपने शरीरका वल देकर कोसती हैं वड़े बुरे शव्दो में इसका नाश हो जाय, इसकी ठठरी लगे, यह मरघटमें जाय अनेक शव्द वड़े जोर-जोरसे कहती हैं। क्या उनके कहनेसे कोई भगवान आजायगा जो ठठरी बांध देगा ? ऐसा जोर-जोरसे वोलती हैं। और कहो जिससे लड़ाई हो वह सामने भी नहीं है साफ मैदान पड़ा है अकेले खड़ी है फिर भी उस ही भेपमें आकर उसही प्रकार जोर से बोलती है, कोसती है। देख लो स्पष्ट औरत क्या कर रही है ? अपने आपमें व्यायाम कर रही है, दूसरे का कुछ नहीं कर रही है। पसीना उसके आगया उससे बाहर उसका कुछ नहीं हुआ। इसी तरह अपनी-अपनी देख लो। हम जितनी भी चेष्टाएँ करते हैं मनकी, वचन की, कायकी, जो कुछ भी उद्यम करते हैं वह सव किया करते हैं। अपनेमें अपना व्यायाम करते हैं। दूसरे का कुछ नहीं करते हैं।

वाञ्छाकी सफलताका भ्रम—जैसे वह कोसने वाली औरत यह समझ रही है कि मैं वहुत जोर से चिल्ला कर कहूँ तो यह मर जायगा, यमराज मेरी सुन लेंगे इसी प्रकार का अज्ञानी जीवोंको भ्रम लग गया है कि हमारी चेष्टा करने से यह काम हो जायगा। मैं इसको यों वना दूँगा, जो मैं चाहूँगा वह होना पड़ेगा ऐसी हठ पड़ गई है। मन चाहा सव काम तो मेरे ख्यालसे चक्रवर्ती और तीर्थंकरका भी नहीं हो सकता। जब वे तीन लोक के नाथ वन जाते हैं तीर्थंकर केवली तब तो उन्हें कुछ चाह नहीं रहती और जब तक वे छद्मस्थ हैं तव तक चाह चलती है। केवल ज्ञान होने पर

उसको मानलो कदाचित कुछ अच्छा लगा (ऐसा होता नहीं किन्तु कल्पना करें) तो भी उनका चाहा हुआ सब कुछ नहीं हो सकता। अपन लोग ऐसा समझते हैं कि तीर्थकरकी जो इच्छा होती है तों सामने इन्द्र खड़ा है इच्छा पूरी कर देता है पर यह सब मोटा कथन है।

व्यक्त अव्यक्त इच्छायें और उनकी असफलतायें—यहाँ पर भी जो वड़े लोग होते हैं सम्पन्न सो उनके समयमें भी लोग समझते हैं कि जो ये चाहेंगे सो हो जायगा, पर किसी नौकर को ही बुलाये तो जब बुलाए तुरन्त आ जाय ऐसा तो उनके भी नहीं हो सकता है एक आध मिनट लग जाय तो क्या असम्भव है ? और कितनी ही इच्छाएँ अव्यक्त हो कर खिर जाती हैं बताते तक नहीं। आप अपनी सर्व इच्छाएँ किसीको वताया करते हैं क्या ? बतायें तो भी हजारों इच्छाएँ तो ऐसी हो जाती हैं कि जिनको आप भी नहीं ग्रहण कर सकते हैं कि मैंने क्या चाहा। जगतमें मन चाहा सब कुछ किसी का हो ही नहीं सकता है। किसी से मित्रता रखना हो, तो तुम उसकी आदत को जानकर प्रकृतिको जानकर उस जैसी प्रकृतिमें ढलनेका यत्न करो तो सफलता हो जायगी।

मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेका सामर्थ्य—भैया ! यदि चाहो कि मैं जो चाहता हूँ वह करलें और मित्रता दृढ़ बनालें सो यह नहीं हो सकता ये साधुजन इसीलिए तो प्रसन्न रहते हैं कि वे समस्त ज्ञेयोंको यथार्थ स्वरूपमें जानकर उनका उल्लंघन कर देते हैं। कोई छोटी बात सुनाए, निस्सार बात सुनाये तो क्या कहते हैं अजी जाने दो, हाँ सब समझ लिया, छोड़ो। यों ही समस्त पदार्थोंको निस्सार जानते हैं इसलिए उनकी यह परिणति सर्व अर्थो में हाँ जी देख लो। जाने दो, देखलिया, छोड़ो, केवल देखलिया, इतना तक ही रहे तो अपनेमें अपने आप छिपी हुई अटूट निधि रहेगी और उनमें यदि फँसे तो अपनी यह निधि न मिलेगी।

केवलज्ञान लियाधुनिका परिणाम—एक सेठजी साधुके पास बैठे हुए बोले महाराज ! हमें उपदेश दीजिए कुछ उपदेश दिया और कहा कि तुम प्रतिदिन मंदिरमें देव दर्शन किया करो। सेठ बोला महाराज यह तो बड़ा कठिन पड़ेगा। घरसे मन्दिर दूर है और आदत भी पहिलेसे नहीं है और कुछ बतलावो। अच्छा तुम्हारे घरके सामने क्या है बोला एक कुम्हारका घर है। और उसके पास क्या है ? जो सीधा तुम्हें दिख जाय ? तुम सुकुमारहो और तुम्हें मन्दिर आनेमें कठिनाई पड़ती है। सो तुम्हारे घरके सामने जो पड़े सो बतलावो। वह बोला महाराज एक भैंसा बँधा रहता है उसके सिरका

चाँद हमें सबसे पहिले दिखता है। तो अच्छा सेठ जी तुम उस भैंसाके सिरके चाँदको ही रोज देखकर भोजन किया करो ? हाँ महाराज यह तो बन जायगा। अब वह रोज उस घरमें भैंसे के चाँदका दर्शन करे और बाद में भोजन करे।

एक दिन कुहार मिट्टी खोदने बाहर गया और भैंसेको भी लिए गया। जरा गहरी खान खोदते-खोदते उसे एक असर्फियोंका भरा हंडा मिल गया। यह बात सुन कर सायद कोई यह सोचता होगा कि ऐसे समयमें हम होते तो ठीक था सबको नही मिलता है। सो मिल गया। जब कोई निधिमिल जाती है तो तुरन्त एक डर लग जाता है कि किसीने देख तो नहीं लिया। सो उस हो समय खानसे ऊपर सिर उठाया। उसही समय सेठ भैंसाके चांदका दर्शन करने गया था। सो सेठने तो चाँदका दशन कर लिया। और कुम्हार सेठको देख कर जोर से कहता है कि सुनो-सुनो सेठजी तो सेठजी कहते है वश देख लिया। कुम्हारने खूब चिल्ला कर बुलाया पर सेठने कहा देख लिया। (अर्थात् जो उसके प्रयोजनकी बात थो वह देख लिया, आपने भैंसे के चाँदको देख लिया) अब वह कुम्हार घर आता है सोचता है कि आज तो वहुत गड़बड़ हो गया। सेठने देख लिया, अब क्या करना है ? उसने विकल्प जगाया। अव तो यह मेरा धन सब छिन जायगा, तो आधी असर्फी लेकरके सेठ के पास गया कहा ! सेठजी सुनलो हमारी बात ये आधी असर्फी ले लो मगर हमारी इस बातको किसीसे कहना नहीं। सेठ सोचता है कि एक भैंसाके चाँदका ही दर्शन करनेसे कुछ फल तो यह मिला। कुछ संयम तो वनाया और यदि देवदर्शन का नियम लें तो पता नहीं क्या मिलें।

प्रभुस्वरूपदर्शनका परिणाम—भैया ! हम लोग विधिपूर्वक दर्शन नहीं करते। यदि विधिपूर्वक दर्शन करें तो संकट कटें। क्या परवाह है क्यों कहीं दौड़ना पड़ता है तो ? भगवन्तके स्वरूपकी तरह तो अपना स्वरूप है। केवल ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ। इसका क्या टोटा पड़ गया। हाथ मैं तो भुगत लूँ, जैसा खाना मिले खा लूँ, जैसा पहिननेको मिले पहिन लूँ, पर ये घरके स्त्री बाल बच्चे ये कैसे भुगतेंगे ? इनकी तो एक शान बनाना है। अरे शान बनाओ तो अपने ज्ञानकी बनाओ। स्त्री पुत्रोंके तो स्वयं पुण्यका उदय है। स्त्री पुत्रों के पीछे ज्ञान की परवाह न रखो तो क्या कष्ट होगा ? कष्ट तो इस जीवने ऊधम मचाकर बना लिया है। यह तो प्रभु हे नाथ तेरे स्वरूप के समान अतः प्रकाशमान निज आत्मतत्वमें ही रह रहा है ? लेकिन

ज्ञेय और ज्ञायक भावमें ऐसा इस मोही जीवने सम्मिश्रण कर दिया है कि अपने आपका यह पता ही नहीं रख रहा है।

भ्रमान्धका क्लेश—मोहमें यह जीव अन्धा हो गया है। यह मेरी चीज है, मैं इसका मालिक हूँ। यह मैं हूँ, यह मेरा हाथ है, इस तरहसे भूल भुलैयामें पड़ गया है। जिसको भ्रम हो गया वह पुरुष बड़ा गरीब है। अब भी कुछ लौकिक बातोंमें हमारा भ्रम हो जाय, बात वैसी है नहीं और मान रहे हैं कि ऐसा है तो ऐसा भ्रम करने वाले भी आप जानते ही होंगे कि कितनी गरीब स्थितिमें हैं। मनकी गरीबीकी स्थितिमें गुजर रहे हैं। फिर जिसे इन समस्त ज्ञेयों पर भ्रम हो गया है वह तो अत्यन्त गरीब हैं। वह मानक की तरह, निम्बू डाल कर क्या बनता है। सिकन्जी। सिकन्जीकी तरह याने निम्बू पानीके सिकन्जेमें जकड़ गया है। उसे कहते हैं सिकन्जी। तो उसमें सर्व मिश्रणाता है कहीं नहीं है तो जैसे मिक्सचरको एक रूपसे अनुभव कर रहे हैं इसी प्रकार यह मोही जीव अपनी ज्ञेय ज्ञानको मिश्रित अनुभवता है, परिणति को आत्मरूपसे अनुभव करता है। यही इस मोही जीवको बड़ा क्लेश है। यह क्लेश यथार्थ ज्ञान बिना नहीं मिट सकता।

भाव्यभावक भाववश अज्ञानपरिणति—अज्ञानी जीवोंके जो ज्ञेय पदार्थो में वृत्ति होती है उसका कारण है भाव्य भावक भाव। मोहनीय नामक द्रव्य कर्मका उदय भावक है और रागद्वेषादि विकार भाव्य हैं और ये राग द्वेषादि विकार आत्माके रुलनेके लिया भावक हैं और फँसा हुआ यह आत्मतत्व यों भाव्य बन रहा है। इस प्रकारके परस्परके फँसाव के निमित्त से इस अज्ञानी आत्माकी उपयोग वृत्ति बाह्य पदार्थोंमें लग गई है। जैसे पानक शर्बतमें भिन्न-भिन्न रसों का किसी एकका स्वाद नहीं लिया जा सकता इसी प्रकार ज्ञानी जीवके न तो ज्ञेय ही जानने में आ रहा है और न ज्ञान ही जानने में आ रहा है। ज्ञेय और ज्ञानका मिश्रण होकर सम्वलन हो कर एक मिथ्या अनुभूत हो रहा है।

ज्ञान और ज्ञेयकी स्वतन्त्रताके परिचयका प्रकाश—ज्ञेयको ज्ञेय समझ जाय और ज्ञाता को ज्ञाता समझ जाय तो वहाँ जीवको कोई आपत्ति नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी संतोंके भी जो परिणमन चलता रहता है वह छदमस्थ अवस्थामें सम्मिलितपरिणामन चलता है फिर भी ज्ञानी महापुरुष उपयोग के द्वारा उनका भेदीकरण कर लेते हैं और इस भेद विज्ञानके और अभेद स्वरूप आत्मतत्वको परिचयके बलसे समस्त पर पदार्थोंमें परिभ्रमण रुक

जाते हैं। यद्यपि श्रमण संत पुरुषोंके हो रहा है अबुद्धिपूर्वक परिणमन कुछ कषाय सम्बन्धी, किन्तु उसका उपयोग विशुद्ध है इस कारण इसका श्रमण्य प्रगतिशील हो रहा है। अंधेरेमें बैठा हुआ मनुष्य उजेले की चीजको देख सकता है पर उजेलेमें बैठा हुआ मनुष्य अंधेरे में रखी हुई चीजको क्या देखेगा। पर्याय यद्यपि अशुद्ध है, अशुद्ध पर्यायकी अवस्था है, किन्तु यह ज्ञान देखता रहा है अनन्त प्रकाश के चैतन्य स्वरूप को इसलिए उसे खास स्पष्ट दिखता है। इसके ज्ञानकी दृष्टिका लक्ष्य प्रकाशमय पदार्थों पर है।

अज्ञामीकी विवेचन और ज्ञानीकासत्पथविहार—ज्ञानी जीव धर्मके अर्थ अपनेमें बड़ा उजेला बना रहा है। उसका भेष, उसकी क्रिया, उसका उद्योग सब एक धर्म प्रभावना जैसा बन रहा है। मोही लोग तो वहाँ भी अंधेरेको ही देख रहे हैं। इन मायामय पर्यायोंको ही देख रहे हैं। प्रकाशमय वस्तुको देखते ही नहीं हैं। इस कारण इस अज्ञानीको अपना होश नहीं है। तब इसको अपने आतमतत्त्वमें एकाग्रता कैसे हो? किन्तु ज्ञानी जीवके प्रकाशमय तत्त्वकी ही दृष्टि लगी है इस कारण एकग्रता भी हो जाती है, श्रमण्ये सिद्ध होता है; मोक्षमार्ग चलता है। अब यह मोक्षमार्ग मदरूपसे बताएं तो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है इसमें यह पर्यायकी प्रधानताका कथन है। और अभेद दृष्टिसे बतावो तो जो ज्ञान स्वभाव है उसमें एकाग्र वृत्ति हुई ना उसको कहते हैं मोक्ष मार्ग द्रव्य दृष्टिसे, निश्चर्य-नयसे शुद्ध ज्ञानस्वभावकी निश्चल वृत्तिका नाम मोक्षमार्ग है

प्रभुताकी जननी मोक्षमार्ग कलाकी भेंट—भेद दृष्टिसे तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सर्व पदार्थोंका ज्ञान करना रागादिकका त्याग करना, २८ मूल गुणों का धारण करना, यह सब मोक्षमार्ग है। और निश्चयसे शुद्ध स्वभावकी निश्चल वृत्ति ही मोक्षमार्ग है। बहुत सरल काम है सदाके लिए संकटोंसे छूटनेका उपाय बनाना। पर एक बार थोड़ा रास्ता मिलना चाहिए जैसे भँवरमें फँसी हुई नाव गोल चक्कर लगा कर डोलती है उसे थोड़ा एक बार भी उस भँवरमें से रास्ता मिलना चाहिए। रास्ता मिला कि वह शीघ्रतासे भँवरके संकटोंसे छूट जायगा। इसी प्रकार अपनेको भी एक मार्ग मिल जाना चाहिए। अन्तर दृष्टि। संकल्प विकल्प छोड़कर और अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव मात्र अपनेको मान लेना इतनी ही कला मिल जानी चाहिए। फिर तो मोक्षमार्ग सरल है।

सत्संगका श्रेय निर्विरोध वृत्तिका मूल—धन्य है वह सतसंग जिसमें ऐसा ज्ञानी मुमुक्षुवोंका सहवास बना रहता है। एक लक्ष्य हो तो हजार भी

पुरुष निर्विरोध निभ जाया करते है। जब लक्ष्य न्यारा न्यारा है, स्वार्थ अलग अलग है तब वहाँ सेजा निभ नहीं पाता। पहिले सैकड़ों और हजारों साधुवोंका संग निर्बाध रहता था उसका कारण यह था कि उन सबका लक्ष्य एक था। जैसे घरके भाइयोंका जब एक लक्ष्य होता है कि इस कारखानेको उन्नति शील बनाना है तब वे कैसी निर्बाध वृत्तिसे रहते हैं और लक्ष्य जुदा हो जाय स्त्रीके बहकानेसे जुदा होनेकी भावना हो कुछ चोरी चापटीसे धन संचय करनेकी प्रवृत्ति हो तब फिर उनका संग साझा नहीं रह पाता है यहाँ इन समस्त ज्ञानी संतोंका मात्र एक ही लक्ष्य है शुद्ध ज्ञान स्वभावका उपयोगी मुझमें मेरा सही उपयोग बना रहे यही एक लक्ष्य है।

विशुद्ध धुन और सफलता— लक्ष्य एक होनेके कारण किसीने कुछ कह दिया तो उसे दिलमें नहीं रखदी। किसीने कोई बाधा डालदी तो उसकी परवाह नहीं करते भोजनकी यदि व्यवस्था नहीं बनती है तो उसकी परवाह नहीं करते। किन्तु ज्ञानभावना द्वारा सतसंग लाभ द्वारा अपने इस परम धर्म की दृष्टि करनेमें जुटे रहते हैं। यह मोक्षमार्ग व्यवहारसे तो रत्नत्रय रूप है और निश्चयसे सहज स्वभावकी एकाग्रता रूप है। श्रामण्य मोक्षमार्ग है यह तो हुआ आदि कथन और रत्नत्रय मोक्षमार्ग है यह हुआ भेद कथन। अप-वर्गका मार्ग जानने वालेके आशयके अनुसार एक भी है, अनेक भी है।

अपवर्गका स्वरूप—अपवर्ग किसे कहते हैं? अप मानने नहीं रहे वर्ग मानने धर्म, अर्थ, काम। जिसके धर्म अर्थ काम अवगत हो गए उसे अपवर्ग कहते हैं अर्थात् मोक्ष। न तो धर्म करना पड़े, न अर्थ करना पड़े अर्थात न धन कमाना पड़े और न विषय भोगना पड़े, न पालन पोषण करना पड़े, ऐसी स्थितिको मोक्ष कहते हैं। पुण्य, परोपाकार, दान, सेवा कुछ न करना पड़े। सिद्ध भगवान धर्म करते है क्या? नहीं। वे तो स्वयं धर्ममय है, धर्म मूर्ति हैं। धर्म करना तब तक आवश्यक है जब तक धर्मका फल न मिले। तो जहां धर्मको भी न करना पड़े। न पुण्य करना पड़े न पाप करना पड़े। वह स्थिति उत्कृष्ट है। तुमने इतना अंश क्यों पकड़ा कि धर्म क्यों न करना पड़े। साथमें यह भी तो कहा कि न धन कमाना पड़े न विषय भोगना पड़े। न चिन्ता करना पड़े। ये सारी बातें न करना पड़े उसीका नाम मोक्ष है। जो शुद्ध ज्ञाता रहनेकी स्थिति रूप निर्वाण है ऐसी एकाग्रता रूप मोक्षमार्गको हे! भव्य प्राणियो तुम अंगीकार करो।

सम्यग्दष्टि श्रावक व साधुके ध्येयकी समानता—धर्मका उपयोग होनेसे अंतरंगमें साधुकी और [illegible] सहयोग पद्धति एक बनती है। अन्यथा

धर्म नहीं चल सकता। साधु भी अपने एकत्व स्वरूपका परिचय ले रहा है तो यह धर्मात्मा श्रावक भी तब धर्म करता है जब अपने एकत्व स्वरूपका परिचय लेता है। अपनेको जितना अधिक अकेला सोचोगे उतनी ही निराकुलता रहेगी। एक यही इसका सार है। घरके झंझटोंसे दिमाग ऊब गया। संकटोंसे छुटनेकी स्थिति तव मिलती है जब यह सोचले कि मरने दो मिटने दो, जो होता है होने दो। ऐसा कोई अपनेको घरसे अलहदा अनुभव करता है तब उसे विश्रांति मिलती है। अलाहदाका क्या अर्थ है। अलाहदा माने न चिपका हो, न लिप्त हो। लिहका माने लगावेको देने वाली जो वृत्ति है वह है लिहदा और अ माने नहीं, जो लिहादा नहीं, जो चिपटा नहीं उसे अलहदा कहते हैं। तो यह एकाग्रता मोक्षका मार्ग है। इस बातका वर्णन करके अब यह बताते हैं कि यदि शुद्ध आत्मस्वभावमें एकाग्रता नही है तो वह बिखरेपनकी स्थिति मोक्षमार्गका विघटन कर देती है।

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी वज्झदि कम्मेहिं रागारहिदषण ।।२४३।।

यदि अज्ञानी श्रमण, मुनि आत्मा से भिन्न पर द्रव्योंका अपना कर मोह करता है रागद्वेष करता है तो वह नाना प्रकारके कर्मोंमें बंध जाता है। जो पुरुष ज्ञानात्मक आत्माकी एकाग्रता को नहीं पाता है वह अवश्य ही ज्ञेय भूत अन्य द्रव्योंका ग्रहण करता है।

उपयोगकी कहीं न कहीं टिकनेकी वान—जैसे कोई वनिया बैठा है, रोजिगार नहीं मिला तो अपनी तखरिया पर बैठे बैठे बटोंका ही तौलनेमें अपना समय लगता है। वह खाली नहीं बैठता है। इसी प्रकार यह आत्मा किसी न किसीको अपना मान कर रहेगा, किसीको अपना माने बिना यह रह नहीं सकता। जब अज्ञानीजनोंमें इस ज्ञानात्मक अपने प्रभुको देखा नहीं सो इसको अपना मान नहीं हो सकता। सो जिसके दिमाग में जो प्रधान बसा हुआ है उसको वही शरण जचता है। किसीको स्त्री शरण जचती है, किसीको पुत्र शरण जचता है, किसीको देश शरण जचता है। जिसको जो शरण जचता है उसे ग्रहण कर लेता है।

अज्ञानका प्रताप व ज्ञानकी कुशलता—इस अज्ञानी श्रवणको यह श्रवण तो हो गया पर मैं क्या हूँ इसका सही पता नहीं हो पाया सर्व व्रतों को ठीक ठीक कर रहा है। कमण्डलको पीछेसे झाड़ कर उठा रहे हैं बड़ी सावधानीसे देखकर पैर धर रहा। बड़े शुद्ध भावोंसे चर्चा कर रहा पर बाहर मिथ्यात्व। एक यह ही तो पता नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र सत हूँ। इसका अनुभव ही तो

नहीं है वाकी सब बातें वहुत वढ़िया है तो इससे कर्मोका रंच भी विनाश नहीं हो पाता है।

ज्ञान बिना श्रमोंका लाभ क्या—जैसे कोई पुत्र स्त्री भाई शरीरका सुन्दर हो। कहते हैं सुन्दर रूप हुआ गोरा, अच्छे आकार का पर वह सद्व्यवहार का काम नहीं करता है, आलसी है तो उसे कहते हैं कि इस रूप का क्या उठायें। यह तो मुझे वैरी की तरह दिख रही है। और कहावतमें कहते हैं कि काम प्यारा होता है चाम प्यारा नहीं होता है। इसी तरह द्रव्यरूप २८ मूल गुण वड़े अच्छे पल रहे हैं पर इन मूल गुणोका क्या उठायें? अन्तरमें तो उस ज्ञान ज्योति का अनुभव नही है जिसके प्रसाद से सम्वर और निर्जरा होता है। यह अज्ञानीपुरुष ज्ञानात्मक आत्माको एकाग्रतासे नहीं या एकता है। सो अवश होकर, जिसे कहते हैं झकमार कर उसे ज्ञेयरूप द्रव्योंका ग्रहणही करना पड़ता है।

अपनी शरणागतताका स्थान—इस जीवकी आदत है कि किसी भी तत्व को शरणमान कर रहना चाहता है। जिस ज्ञानीने कल्याणमय अपने आपके स्वरूप दर्शन किया है वह उसे हितमानकर रह रहा है और जिसको पता नहीं है वह पराधीन विनाशीक मायमय पदार्थोंको ग्रहण करके (यह ज्ञानात्मक है तो भी) आत्म ज्ञानसे भ्रष्ट होकर अज्ञानी बनता हुआ मोह करता है, राग द्वेष करता है और जब मोही, रागी, द्वेपी हुआ तो कर्मोंसे बँधता ही है। छूट नहीं सकता। ये वच्चे लोग एक गोली का खेल खेलते हैं बंटा खेलते हैं गल बनाकर तो उस गलमें अँगुलीसे फेंकी गई उस गोली को गलमें डालना चाहते हैं वह गोली चली, गलके किनारे २-३ सूत पर अटक गई। गलमें गोली न जा सकी। बच्चे अपने मनमें उपयोगसे वड़ा बल लगाते हैं। जरा ही तो कसर है गिर जाय तो उसकी जीत हो जाय। हम धर्म करते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार अपना उपयोग अपने भीतर ले जाना चाहते हैं। मगर वह आनन्द समुद्रके किनारे पर जरासा अटक जाता है। जरासा और वल लगाये और आनन्द सागरमें खिसक जाये तो यह जीव ऐसे आनन्दका अनुभव करेगा कि जिसके आनन्दके स्मरणमें ही लीला मात्र से कर्मोका ध्वंस होगा।

विवादका मूल न कुछसी तुच्छ बात—भैया! मोटेरूपसे भी देखो—यह सारा जग जाल किस मूल पर टिका है? अपनी भूल पर टिका है। ठोस मूल कुछ नहीं है। बात तो कुछ नहीं, पर झगड़ा सच्चा वन गया। लोकमें भी जो झगड़े होते हैं उनकी जड़ मामूली बात होती है। हम प्रयत्न तो सब

करते ही हैं पर थोड़ा सा और करलें तो काम बन जायगा। उस थोड़ीसी कसर पर ही सारे कलह खड़े रह जाते हैं। बड़ी बात पर कलह नहीं होता। भाई-भाईमें कदाचित न्यारापन हों तो बड़ी बात पर झगड़ा न होगा। साफ दिखता हैं इतने लाख इनके, इतने लाख इनके इतना मकान इनका, इतना मकान इनका पर अन्तमें किसी चबूतरेके कौने पर ही विवाद हो पड़ा तो चाहे सारी सम्पदा मिटा दें दोनों ही। इस तरहसे केवल चबूतरेके कौने पर ही कितना बड़ा विवाद हो जाता है। कलह थोड़ी बातसे होता है। अभी शादी समारोह होते हैं इनमें तो देवा लेना चलता है। लेना देना सब ठीक है पर जाते समय दो-दो रुपये टीकाके न दे पाये तो सारा व्याह बिगड़ गया बताते हैं लोग। जितने कलह होते हैं वे सब छोटी बातों पर नहीं होते हैं।

शान्तिको न छुपा कर आत्महितमें उद्योगकी प्रेरणा—आत्महितमें छोटी कसर रह जानाभी बड़ा खतरनाक है। हम उद्योग करते हैं पर जरासीकसर रख लेते हैं। वह जरासी कसर ही सारा खतरा बन रहा है। आत्मानुभव, ज्ञानानुभवमें नहीं डूब पाते हैं। यह अज्ञानी जीव ज्ञानमात्र अपने आत्माकी अभभूति न कर सके तो वह कर्मोसे बंधताही है। छूटता नहींहै। इस कारण यही निर्णय रखें कि जो अनेकाग्रता है, ज्ञानात्मक आत्माका अनुभव न हो पाता है उसमें मोक्षमार्ग है ही नहीं। बहुत सीधा उपाय है धर्मात्मा बननेका मोक्षमार्गमें लानेका। वह यह है कि इन्द्रियोंको संयत करके इस मनसे भी दूसरोंका विकल्प न करना।

आत्म स्पर्शका स्मरण—भैया ! आत्मस्पर्शमें कितना आनन्द है इसका आपको अनुभव भी हो गया होगा। अपने मनमें जरा भी विकल्प न करके अपनेको ऐसा तक करलो कि यह तो मैं ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ। ऐसा अपने उपयोगसे अपने आपका स्पर्श हो जाय तो उसे मोक्षमार्ग मिल गया। विल्कुल थोड़ी देरकी हम बात कह रहे हैं। करलो। यदि क्षणभरको भी श्रद्धा भी प्रबलतासे समस्त पर वस्तुओंको यह उपयोगसे हटादे तो इसको परम शान्तिका स्थान दिख जायगा। झंझटोंसे ऊब गये, विकल्पोंसे हैरान हो गये फिर भी हैरानीको ही यह ढूंढना चाहता है। यह नहीं कि इस हैरानीको हटा दे और अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर लें। यह आत्मस्व-रूपकी एकाग्रता ही मोक्षका मार्ग है।

प्रधान प्रयोजनकी बातकी पुनः पुनः स्मारकता—अब इस मोक्षमार्गके प्रकरणके उपसंहार रूपसे यह फिर निश्चय कराते हैं कि ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता में ही मोक्षमार्गपना है। जैसे कोई पुरुष बहुत बड़ी समस्याकी बात

सुन आया हो तो उस वातको खूब सुना चुका, दो चार वार सुना चुका और इसके वाद बीचमें और यथार्थमें छिड़ गई तो फिरसे उनको वही सुनाता है और जब विदा होता है तब भी कह जाता है कि देखो भैया ख्याल रखना। उसका प्रधान जो उद्देश्य है एक उसे जाते-जाते कह जाता है। इस मोक्षमार्ग के प्रकरणमें यह आखिरी कथा है। तो जाते-जाते आचार्य देव बताते जाते हैं कि देखो मनमें अवधारण करो कि आत्मस्वभावकी एकाग्रता ही मोक्षका मार्ग है। इन वातोंको अब उपसंहार रूपमें कहते हैं।

अत्थेसु जोण मुज्झादि णादि रज्जदि णेव दोपमुव यादि।
समणोजदि सोणियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥२४४॥

जो साधु पदार्थोंमें नहीं मुहता है और न उनमें आशक्त होता है। और न द्वेषको प्राप्त होता है वह निश्चयसे नाना प्रकारके कर्मोंका क्षय करता है।

दृष्टिकी कुशलता—सब कुछ दृष्टिका ही खेल है नावको चलाने वाला तो चलाता ही जाता है तेजीसे पर पीछे जो बैठा हुआ है सूपासा लिए हुए जिसे करिया बोलते हैं वह जैसी मोड़कर दे नाव उस तरफ ही चले। खेने वाला तो नावको बढ़ानेका काम कर रहा है। किस ओर नावको खेवें यह उसके हाथकी वात नहीं, यह तो जिसे कर्णधार बोलते हैं उसके हाथ वात है। जैसा टेढ़ा-मेढ़ा कर दिया उस ओर नाव बढ़ जाता है। आत्मामें चरित्र गुण है। उसका परिणमण यही है कि लग जाय चले पर दृष्टि जिस ओर मोड़ खाती है उस ओर ही आत्मा चल देता है।

जो आत्माका स्वरूप जानता है कि यह मैं आकाशवत निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र सबसे निराला अनादि अनन्त अहेतुक नित्य प्रकाशमान आत्मचेतन हूँ, ऐसा जो श्रद्धान करता है तथा ऐसा ही अपनेको निरखना चाहता है जो ज्ञानात्मक आत्माको एक प्रधानतासे भाता है वह हेयभूत अन्य द्रव्योंको प्राप्त नहीं होता है। यहाँ आसीदति शब्द दिया है। उसका अर्थ है प्राप्त होना। सी दति कहें तो क्या अर्थ होता है? दुःखी होना। अन्य द्रव्योंको पानेकी वात दुःखी होनेकी क्रियासे बनाया है वह अन्य द्रव्योंसे नहीं प्राप्त होता है। इसका भाव है कि वह दुःखोंको प्राप्त नहीं होता। विषय साधना प्राप्त भी होना दुःख स्वरूप है।

परमानन्दकी अनुभूति होने पर तुच्छ सुखकी इच्छाका अभाव—जिसे उत्कृष्ट आनन्द मिल जाय वह झूठे आनन्दके लिए क्यों तरसेगा? जब ज्ञानात्मक निज तत्त्वकी भावना होती है तब आकुलताओंका भाव नहीं है

फिर अन्य ज्ञेयभूत द्रव्य क्या दुःख प्राप्त क्या करावे ? जब ज्ञेयभूत अन्य द्रव्योंको नहीं पाया तो यह ज्ञानात्मक आत्मा अपने ज्ञानसे भ्रष्ट न होकर अपने ज्ञानमें ही रत होकर स्वयं ही ज्ञानी होता हुआ ज्ञानरूप ठहरा रहता है वह द्रव्योंमें नहीं रहा करता है। न राग करता है न द्वेष करता है। तब अन्य द्रव्य ज्ञेय रहते हैं, उनका आसीदन नहीं होता। गुस्सा आते रहनेका कारण क्या है ? पर्यायमें अहंबुद्धि। किसी भी घटना को लेकर जो क्षोभ हो जाता है वह वहिरात्मापन का कारण है। और त्यागी वनकर भी जो निरंतर क्षोभ क्रोध करता है तो त्यागी हो चाहे गृहस्थ हो जैसे जन्मना और मरना है इसी प्रकार परिणति होनेका विधान एक समान है। भेष रखनेसे अन्तरमें कर्म सुविधामें अन्तर नहीं पड़ता है परिणामोसे ही अन्तर पड़ता है।

पर्यायबुद्धि संकटोंकी खान—कुछ लोकमें बड़ा कहलाया जाने पर पर्याय बुद्धि हो तो यह भाव वन जाता है किमेरा इस लोकमें अधिकार है, ये सब लोग मेरे आश्रित हैं अथवा मेरेसे छोटे हैं। मुझे ये पूछते रहें, मेरा आदर करते रहें इतना ही इनका काम है और ऐसी ही तड़क-भड़क बनाए रहना मेरा काम है। भैया ! पर्यायि वुद्धि मिटे विना सच्चा प्रकाश नहीं होता है। जो केवल ज्ञानात्मक आत्माको प्राप्त करले वह राग करता है न द्वेप करता है न मोह करता है और ऐसा निर्दोष होता हुआ वह कर्मोसे छूटता ही है बँधता नहीं है। इसलिए सर्प संकटोमे छूटनेका उपाय केवल ज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्वको स्वीकार करना है इसे और कुछ नहीं चाहिए। इसमें अन्य कोई चीज आत्मासे नहीं आती। कोई चीज लगी नहीं होती। यह तो ज्ञानात्मक मैं परिपूर्ण ही हूँ ऐसी दृष्टि हो तो संकट मिट सकते हैं। जहां बाहर देखा तो सर्वत्र संकट ही संकट हैं।

ज्ञानकी दृष्टिमें समस्याओंके हलकी सुगमता—ज्ञानकी दृष्टिमें जहाँ जो कुछ होता है दिखाता है कि वे सब भरे पड़े हुए हैं, होना था होता है। टालता कौन है ? मैं हूँ ऐसा समता परिणाम जो करले उसकी विजय है। पाप किया तो फल और कौन भोगेगा। फल मिल रहा है तो हम पापोंसे ही तो निपट रहे हैं। हल्के हो रहे हैं, उस फलमें समता हो। नरकगतिसे निकला हुआ जीव था तो मनुष्य बनता है या तिर्यञ्च बनता है, फिर नारकी नहीं बनता है। वह मनुष्य तिर्यञ्च बनकर फिर नरकमें जा सकता है पर नारकी मरकर फिर नारकी वन जाय यह नहीं होता है। वे नारकी जीव ठुकपिट कर दुःखी होकर वद्ध पाप कर्म प्रायः सबखिरा देतेहैं, और भी वाँधते हैं

पर रौद्र ध्यान परिग्रह लिप्सा आदि अनेक बातें इतनी तीव्र नहीं हो पाती हैं कि नरक गतिमें फिरसे चला जाय। वहाँ जाकर वह हल्का हो जाता है। वहाँसे वह ऊपर ही जन्म लेता है। उस नरकमें पहुँचकर उसके दुःख भोगना उसके लिए न्यायकी बात है अन्यथा उद्धार कैसे हो? अपने जीवनमें भी जो आपत्तियां आती हैं ज्ञान हो तो ज्ञानी उन आपत्तियोंको टाल देते हैं। पूर्व पाप किया उनके उदयमें तो ऐसा होता ही है। होने दो क्या हो रहा है? धनमें धनकी बात हो रही है। वह रहता है, नहीं रहता है, कम आता है उसकी उसमें परिणति होती रहती है। शरीरकी शरीरमें परिणति हो रही?

परपरिणतिमें न विवेचनेका साहस—देखो जानते हैं सभी कि मैं बोलूंगा तो फसूंगा। नहीं बोलूं तो क्यों फँसूंगा किन्तु जो साहसवान हैं वे सबसे अपनी दृष्टि हटा लेते हैं। लोग नहीं पूछते, नहीं मानते कि यह भला है, यदि ऐसी कल्पना रहेगी माने आत्मदृष्टि कम रहेगी, तो वह, क्योंकि कुछ न कुछ राग है ना? सो उन मानने वालोंमें पूछने वालोंमें दृष्टि चली जायगी, फिर यह तो अपने कल्याणसे हट जायगा। जो कुछ होता है वह भलेके लिए होता है। ऐसा ढालो ज्ञानको, घबड़ानेसे लाभ नहीं है। धन कम है तो वह भलेके लिए है। थोड़ा धन होने पर शांति रहती है, अधिक धन होने पर शांति नहीं रहती है। कोई विरला अपवाद रूप ऐसा है कि चक्री होने परभी, धनी होने पर भी निर्मल है किन्तु प्राय. देखो तो धन बढ़ जाने पर अशांति बढ़ जाती है। ममता साथमें है ना, तो जितना हो जाय धन उतनीकी रक्षाकी फिकर रहती है। सो जो है वह ही भला है, ठीक है। उससे अपनेमें क्षोभ नहीं लाना चाहिए। कोई पुरुष अपने पर नाराज होता है कोई ज्ञानी पंडित महापुरुष अपने आप पर नाराज हो तो वह भले के लिए है।

ज्ञानीके क्रोध पर क्यों रोष व अज्ञानीके क्रोधपर क्या रोष—ज्ञानी की गुस्सा से भी बड़ा फायदा दूसरोंको मिलता है। लोकमें तो यह कहावत है कि रामने रावणको मारा तो उसकी मोक्ष हुआ। बड़ेके हाथसे मरना भी भला है। ऐसी एक वहाँ उक्ति है। सागर की एक घटना है कि एक व्रती काछी रहता था तो उसका निमंत्रण हो तो लोग कई बातोंकी शिकायत करें। यह चूल्हे के पास घुस आता है, जीमकर चला जाता है थाली भी नहीं माजता है। और और जो कुछ बातें होती थीं, कहीं जब शिकायतें बहुत आयी तो गुरु जीको गुस्सा आ गया। सो काछीको नाराज होकर बढ़ी-चढ़ी बातें कह दिया। उस गुस्सेसे उसको बड़ा फायदा मिला। थोड़ी देर बाद लोगोंसे कहा

कि इसका मासिक बाँध दो और इसके पढ़नेकी भी सुविधा देदो। उसका प्रबंध बढ़िया कर दिया लेकिन उसके भाग्यमें न था कुछ माह रह कर वह स्थान छोड़कर चल दिया। सो भैया ज्ञानीकी गुस्सापर क्यों रोष करना और अज्ञानी तो अज्ञानी है वह तो होशमें भी नहीं है उसकी गुस्सापर रोष ही क्या किया जाय। आप कोई नाराज हों और मैं नाराज न होऊँ तो आप की नाराजीसे मुझे लाभ ज्यादह होगा। तो ज्ञानी यह देखता है कि जगतमें जो होता है सब भला है। होता, होता था, होगा। इस जगतके परिणमनको देखकर वह अपनेमें रागद्वेष नहीं करता।

वस्तुस्वरूपके विरुद्ध विचारका परिणाम मात्र क्लेश—वस्तु के स्वरूप खिलाफ यदि कोई कुछ चाहने लगें तो उसका तो कुछ इलाज ही नहीं। सहारनपुरकी बात है जब जम्बूप्रसाद थे उनके हाथी था। उनके पड़ोसका एक लड़का एक बार रोने लगाकि ये हाथी, मायने हमें हाथी चाहिए। तो उन्होंने महावत से समझाकर हाथीको सामने खड़ा कर दिया। तो फिर वह बच्चा कहता है कि हमें खरीद दो। जैसे खिलौना खरीदने वालेके यही धुन रहती है। सो उसके पिताने अपने घरके वाड़ेमें हाथीको खड़ा करा दिया व कहा खरीद दिया। बच्चेसे कहा बेटा यह हाथी तुम्हारा हो गया। फिर इतनेमें बच्चा क्या कहता है कि इसे जेबमें रखदो। अब बतलाओ यह पूर्ति कैसे करें? इतने बड़े हाथीको जेबमें कैसे रखें? इसी तरह ये मिथ्यादृष्टी बच्चे पर द्रव्योंके विषयमें अनाप सनाप सोच रहे हैं उनका सोचना यों है जैसे बच्चेने यह कहा कि हाथी हमारी जेबमें भर दो। अमुककाम यों बन जाय। अमुक बात यों हो जाय यह जेबमें हाथी रखाने के बराबर कल्पना है।

दुःखपूर्ण जगतमें सावधानीकी कर्तव्यनिष्ठता—जैसे काजलकी कोठरी हो वहाँ से रास्ता निकलनेका हो तो सम्हालकर निकलना चाहिए नहीं तो कोई न कोई रेख लग ही जायगी। इसी तरह यह जगत काजलकी कोठरी है। इसमें बड़ा सावधान रहना चाहिए। सावधानी क्या कि पर वस्तुवोंके ज्ञाता दृष्टा रहो। सबका उपाय क्या है? आँख बंद करके, इन्द्रियोंका संमय करके मनकी हड़ताल करके एक ज्ञानात्मक निज आत्मतत्त्वकी दृष्टि करें। एक ही यह ऐसी धर्म साधना है कि भव भवके बाँधे हुए कर्म कट जाते है। सब दृष्टिकी बातें हैं।

परमार्थतः धर्म एक और धर्मसाधन भी एक—कल चतुर्दशी थी। सामायक से पहिले प्रतिक्रमण किया। बांच लिया किताब, सामयिकके

बाद फिर इस मन्दिरजीमें श्री महावीर स्वामीके दर्शन करने गये तो सायद आध मिनट ही लगा होगा कि मनमें यह कहा कि प्रभो चारित्र तो इतना है यह है हम तो जो चारित्र व प्रतिक्रमण करते हैं सो खेल है। अपना तो यही करनेका है कि केवल चमत्कार स्वरूपमें मग्न हो जाये। पश्चात् मैंने सोचा कि इस आधे मिनटमें मेरा प्रतिक्रमण है और वह पौनघटेका प्रतिक्रमण प्रतिक्रमण नहीं हुआ धर्म साधन एक प्रकार का है, भिन्न-भिन्न प्रकार के नहीं हैं। गृहस्थका धर्मसाधन और प्रकारका हो साधुका धर्म साधन और प्रकारका हो ऐसा अन्तर नहीं है। धर्म एक है और उसका साधन भी एक है।

व्यवहार धर्मके विभिन्न साधनोंसे परमार्थ धर्मविधियोंके विभिन्नताका अभाव—व्यवहारमें यह अन्तर है। चूँकि गृहस्थ अनेक प्रकारके समागमोंमें है। उसका चित्त बड़ी कठिनाईसे धर्ममें लगता है। और लग भी नहीं पाता है। सो साधु जैसा उपाय उससे नहीं बन पाता है। वह अपना उपाय अन्य प्रकार करता है। किसीने पूजाका सहारा लिया किसीने विधानका सहारा लिया। धर्म साधना कर रहे हैं पर उस पूजा में जितने क्षण ज्ञानात्मक आत्मतत्त्व का दर्शन होता है, ज्ञानात्मक स्वरूपमें अनुराग होता है उतने क्षण उसके धर्म हुआ और साधुवोके चूँकि बाह्य साधन और तरहके हैं, अकेले हैं, वस्त्र भी नहीं, नौकर भी नहीं, धन भी नहीं, दूकान भी नहीं, घर भी नहीं सो जरा से ही यत्नमें ज्ञानात्मक आत्मतत्वके दर्शन कर लेते हैं। ज्ञानात्मक स्वरूपका अनुराग कर लेते हैं सो इसी पद्धतिमें धर्म साधन साधुवोंके भी होता है।

अन्तर्ध्येयकी सम्हाल—भैया यह न देखना कि यह मैं गृहस्थ हूँ तो गृहस्थके योग्य अपना काम कर रहा हूँ तो हमें इतने पर ही डट जाना चाहिए और साधूजन इसी प्रकार तेजीसे धर्म साधन करें तो यह उनका काम है। ऐसी कर्मोमें सलाह नहीं है कि यह आँख मींचले तो हम न बँधेगे। वहाँ तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। धर्म दृष्टिका परिणाम होगा तो कर्म कटेंगे, कर्म हटेंगे मोहन रहेगा। शांति मिले इसका ख्याल करो, औरोंके प्रसंगमें शान्ति नहीं मिलती है। क्योंकि पर पर स्वयं हैं, वे मेरे आधीन नहीं है। फिर उनके ख्यालमें उनके संगमें मुझे शान्ति कैसे मिल सकती। और निज स्वरूपकी दृष्टि करके देखते भालते जावो इन सब मोहको विषय भूत परिवार जनों की चेष्टाको।

ज्ञानी संतोंकी हितकारिता—इन परिवार जनोंसे अधिक हितकारी ज्ञानी

संतजन हैं, परिवारी जनोंसे क्या पूरा पड़ेगा ? उनके ही पीछे जीवन तक लगा रहे हैं। पर ज्ञानी संतपुरुषों की वाणी, जिसको हम रोज पढ़ते हैं यह हितकारिणी बनेगी। खूब देख लो, लेकिन यह मोही प्राणी परिवारको तो समझता है कि ये मेरे हैं पर ज्ञानी संतजनोंको जब भी यों निरखते हैं कि यह है ज्ञानी याने ज्ञानी भी मान लिया तो भी ऐसी झकझोर दृष्टिसे ज्ञानी मानते हैं कि यह प्रतीति बने रहे ये तो पराये हैं। असली हमारे सदस्य तो ईटके घरमें हैं।

दुर्लभ हितसाधनोंका उपयोग—अनादि कालसे भ्रमवश अनेक परिवर्तनों में रुलते चले आए हुए हम लोगों को आज दुर्लभ समागम मिला है। कैसा पर्याय कैसा मजहब, निर्दोष वीतरागताका जहाँ सर्वत्रपुट नजर आता है ऐसा धर्म, ऐसा उपदेश और इतना विशिष्ट क्षयोपसम इतना सब कुछ मिलने पर भी यदि कुछ आत्म-कल्याण की बात न कर सके तो जैसे मनुष्य रत्नको पाकर समुद्रमें फेंक दे ऐसा ही कार्य किया। इस भावको भी उन अनन्त भवों में डाल दिया। नदीमें डाल दिया। भैया ! अब क्या करना है ? अन्तरमें ज्ञानात्मक आत्मतत्त्वका स्मरण करना और बाहरमें जितना हो सके इन प्रभुवोंकी सेवा करना। बाहरी वृत्ति यदि परोपकार की है सेवाकी है तो उसमें मंद कषायों का अवसर रहता है।

निज परकी अपेक्षाके बिना उपकार वृत्ति—कोई कहे कि हम लोग तो बहुत परोपकारी हैं, सेवक हैं, देखो बच्चोंको कैसा पढ़ा लिखाकर एक इंजीनियर बना दिया और कैसा धन वैभव जोड़ कर अपने बच्चोंकी निर्भय बना दिया। यह परोपकार नहीं है ये मोहकी चेष्टाएं हैं। परोपकार तो वह है कि जिसमें आपके मोहका लगाव नहीं है उसके दुःखोंको दूर करना और जिसमें मोहका लगाव है उस पर तो बड़ा श्रम करेंगे ही अपने कषायोंके कारण।

बालकोंके लौकिक आराम मन्त्र तन्त्र—ये बच्चे लोग हैं तो भैया, ये अपने पिता से कुछ चीजोंका सवाल करें, पैसा मागें, चीजें मागनेमें हट कर जाते हैं खानेकी हड़ताल कर देते हैं। बिगड़ जायें, मचल जायें मुझे यह चीज लावो, मुझे अमुक चीजलावो। नहीं लाते तो मचल जाते हैं। यह उन बच्चोंकी बेवकूफी है। उनको एक मंत्रकी साधना रखना चाहिए फिर तो अपने बापको अपना ज्यादह दास बना कर अपनी सेवा अपनी रक्षा अपनी गुलामी करवा सकते हैं। क्या मंत्र है वह ? बच्चे थोड़ा सा हाथ जोड़ ले, कभी कभी पैर छू लें, विनय की वाणी बोल लें। बस इतना ही मंत्र केवल

फुक गया, उसमें कषाय और मोहकी वासना जरा जग जाय फिर तो बच्चे का पौ बारा है। फिर बच्चो ! तुम्हें तो कोई तकलीफ न होगी। बापकी बाप जाने रिसाकर मचलकर पूरा न पड़ेगा। इस मंत्रसे ही पिता बच्चेका दास बन जायगा।

पितालोगोंके आरामका मन्त्र तन्त्र—अब सोचो हमें क्या करना है ? कषाय करके कषायों की वेदना को हम नहीं सहपाते हैं तो उन कषायोंको शांत करना है। आपलोग कहेंगे कि बच्चेकी ऐसी बात बता दी कि हम बुरे फँस जायें। तो तुम अपनी सुनलो करना तुम्हें यह है कि बच्चा कुछ भी करें तुम यह जानते जावो कि इसकी चेष्टा से मेरा हित नहीं होने का है। हम न्यायके अनुसार ही उनके जानकर बन कर पोषण करेंगे। इनमें आशक्त होकर हम कोई काम न करेंगे। चाहे ये कितना ही विकल्प करें। आप क्या यह नहीं सोच सकते हैं।

सावधानी और कर्तव्यकी दृष्टि—भैया ! काजलकी यह कोठरी है, इससे गुजरना है। यहाँसे गुजरें तो हमें लाभ है। इस प्रकरणमें यह बताया है कि बाह्य पदार्थोंके रागद्वेष मोहकरनेके फलमें यह जीव कर्मोंसे वेधता है और रागी द्वेषी मोही न बने तो यह कर्मोंसे छूटता है। रागादिक विकारोंसे रहित होने के लिए एक ही उपाय है। ज्ञान स्वरूप निज आत्मतत्त्वका आश्रय करे। मैं तो अमूर्त हूँ, ऐसे ज्ञानात्मक आत्मामें एकाग्र होना यही मोक्षमार्ग है और इस ही निज वृत्तिसे अपना उद्धार होता है।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य

(१) श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैङ्कर्स सदर मेरठ
संरक्षक, अध्यक्ष व प्रधान ट्रस्टी

(२) श्री सौ० फूलमाला देवी जैन ध० प० श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ। संरक्षिका

(३) श्री ला० खेमचन्द जी जैन सर्राफ, सर्राफा सदर मेरठ मंत्री

(४) श्री बा० आनन्द प्रकाश जी जैन वकील सदर मेरठ उपमंत्री

(५) श्री ला० शीतल प्रसाद जी जैन दाल मंडी सदर मेरठ सदस्य

(६) श्री ला० कृष्णचंद जी जैन रईस देहरादून ट्रस्टी

(७) श्री ला० सुमति प्रसाद जी जैन दाल मंडी सदर मेरठ ट्रस्टी

(८) श्री सेठ गेंदन लाल जी शाह सनावद ट्रस्टी

(९) श्री राजभूषण जी जैन वकील मुजफ्फरनगर "

(१०) श्री गुलशन रायजी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर सदस्य

(११) श्री मा० त्रिलोकचंदजी जैन सदर मेरठ सदस्य

आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञानके सरल साधनोंसे अवश्य लाभ लीजिये

धर्मप्रेमी बन्धुओ ! यदि आप सरल उपायों से आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञान चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी पूज्य वर्णी सहजानन्दजी महाराजके प्रवचन और निवन्धोंको अवश्य पढ़िये। आशा ही नही अपितु पूर्ण है कि इनके पढनेसे आप ज्ञान और शान्तिकी वृद्धिका अनुभव करेंगे

पुस्तकें मँगाने का पता

मंत्री सहजानन्द

Bhartiya Shruti-Darshan Kendra
JAIPUR

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य

(१) श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैङ्कर्स सदर मेरठ
संरक्षक, अध्यक्ष व प्रधान ट्रस्टी
(२) श्री सौ० फूलमाला देवी जैन ध० प० श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ। संरक्षिका
(३) श्री ला० खेमचन्द जी जैन सर्राफ, सर्राफा सदर मेरठ मंत्री
(४) श्री बा० आनन्द प्रकाश जी जैन वकील सदर मेरठ उपमंत्री
(५) श्री ला० शीतल प्रसाद जी जैन दाल मंडी सदर मेरठ सदस्य
(६) श्री ला० कृष्णचंद जी जैन रईस देहरादून ट्रस्टी
(७) श्री ला० सुमति प्रसाद जी जैन दाल मंडी सदर मेरठ ट्रस्टी
(८) श्री सेठ गेंदन लाल जी शाह सनावद ट्र[illegible]
(९) श्री राजभूषण जी जैन वकील मुजफ्फरनगर
(१०) श्री गुलशन रायजी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर
(११) श्री मा० त्रिलोकचंदजी जैन सदर मेरठ सदस्य

आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञानके सरल साधनोंसे अवश्य लाभ लीजिये

धर्मप्रेमी बन्धुओ ! यदि आप सरल उपायों से आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञान चाहते है तो अध्यात्मयोगी पूज्य वर्णी सहजानन्दजी महाराजके प्रवचन और निबन्धोंको अवश्य पढ़िये। आशा ही नही अपितु पूर्ण विश्वास है कि इनके पढ़नेसे आप ज्ञान और शान्तिकी वृद्धिका अनुभव करेंगे।

पुस्तकें मँगाने का पता—

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०